द्विमासिक

शिराज़ा

हिन्दी



रजत
जयन्ती
विशेषांक

द्विमासिक शीराज़ा हिन्दी

वर्ष : २० जून-सितम्बर १९८४ अंक : २-३

अपनी बात

□

सन् १९५८ के स्वतन्त्रता दिवस से एक दिन पहले स्व० प्रधानमंत्री बख्शी गुलाम मुहम्मद ने श्रीनगर में एक बिरवा रोपा था। यह बिरवा इस प्रदेश की संविधान सभा द्वारा देखे गए ख्वाब की तावीर था। उस समय जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़ भी अन्य सरकारी महकमों की ही भांति एक महकमा था किन्तु सन् १९६८ में एक विशेष अध्यादेश द्वारा इसे एक स्वायत्तशासी संगठन में परिवर्तित कर दिया गया था—एक ऐसा संगठन जो धन तो राज्य सरकार से लेगा किन्तु जिसका सारा कार्य-व्यापार इस संगठन के अपने संविधान द्वारा चालित होगा। समय बीतने के साथ इस बिरवे के माली बदलते रहे हैं किन्तु हर नये हाथ ने इसकी शाखाओं को नई दिशाओं में फैलने देने में भरपूर सहयोग किया है। परिणामतः आज अकादमी की शाखाएं लेह, श्रीनगर और जम्मू में इन तीनों इकाइयों की सांस्कृतिक चेतना के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही हैं।

गत पच्चीस वर्षों का अकादमी का इतिहास इस प्रदेश के सांस्कृतिक उत्थान-पतन का आईना बनकर सामने आया है। यह वह प्रदेश है जहां बुर्जहामा, अवन्तिपुरा, बब्बौर तथा किरमची के पुरातात्विक महत्त्व के स्थलों के साथ पुरातत्त्व और धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण गोम्पा स्थित हैं। ये वे स्थान हैं जो इस प्रदेश के कला-वैभव की गाथा सुनाते हैं। 'बसोहली कलम' के कलाकार काल का ग्रास हो गए किन्तु कला सुरक्षित रही। इन परम्पराओं को पुनरुजीवित करने तथा इनके विकास की दिशा में अकादमी ने सभी सम्भव पग उठाए हैं।

अकादमी की स्थापना से पूर्व जम्मू-कश्मीर में हिन्दी, उर्दू, कश्मीरी, डोगरी, पंजाबी, लद्दाखी, गोजरी तथा पहाड़ी आदि भाषाओं के लेखकों के सामने सबसे बड़ी समस्या अपनी रचनाओं के प्रकाशन की थी। अकादमी ने इस दिशा में प्रभावी कदम उठाते हुए न केवल प्रत्येक भाषा के लिए स्वतंत्र रूप से 'शीराज़ा' नामक पत्रिका का मंच उपलब्ध करवाया बल्कि पुस्तकों के प्रकाशन के लिए आंशिक आर्थिक अनुदान देने की योजना आरम्भ कर रचनाओं के पुस्तकाकार प्रकाशन के लिए भी लेखकों को प्रेरित किया। परिणामतः आज जम्मू-कश्मीर से इन भाषाओं में छपने वाली ९५% से भी अधिक पुस्तकें अकादमी की ही सहायता से प्रकाश में आ रही हैं। इसके अतिरिक्त अकादमी ने लेखकों के लिए कवि-सम्मेलनों, लेखक-सम्मेलनों, लिट्रेरी फोरम की बैठकों आदि का आयोजन भी किया है जिससे लेखक न केवल एक दूसरे के समीप आ सके हैं बल्कि उनमें आपसी समझदारी भी बढ़ी है। अकादमी ने श्रेष्ठ पुस्तकों पर पुरस्कार देने की योजना द्वारा भी लेखकों में अपनी रचनाधर्मिता के प्रति संजीदगी को गहराया है। मार्च ८४ में आयोजित सेमिनार में आए सुझाव को कार्यान्वित करते हुए सितम्बर ८४ में ही अकादमी ने गांदरबल में लेखकों का एक कैम्प लगाया था जिसमें प्रत्येक भाषा के दो-दो लेखकों को एक साथ रहने और सृजन से जुड़ी समस्याओं तथा विभिन्न भाषाओं की रचनाओं पर विचार-विनिमय करने का अवसर प्रदान किया था।

संगीत, नृत्य तथा ललित कलाओं की उन्नति में लिए भी अकादमी ने गत पच्चीस वर्षों

में बहुत काम किया है। जम्मू तथा श्रीनगर में अलग-अलग इन्स्टीट्यूट ऑफ़ म्यूज़िक एण्ड फ़ाइन आर्टस की स्थापना की गई है जहां छात्रों को स्नातक स्तर की शिक्षा दी जाती है। हर साल अकादमी देश के प्रतिष्ठित संगीतकारों, गायकों, नृत्यांगनाओं तथा अन्य ऐसे ही कलाधर्मियों को राज्य में आमन्त्रित करती है ताकि उनके प्रदर्शनों से इस राज्य की जनता में अपनी शास्त्रीय संगीत और नृत्य की विरासत के प्रति न केवल रुचि बनी रहे बल्कि उसमें बढ़ोतरी भी हो। इस संदर्भ में यहां नाम गिनाने से कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि बहुत कम चोटी के कलाकार ऐसे हैं जो इस योजना के तहत राज्य में नहीं आ पाए होंगे। भारत सरकार की एक अन्य योजना को कार्यान्वित करते हुए अकादमी ने दूसरे प्रदेशों में अपने सांस्कृतिक दल भेजे हैं तथा दूसरे प्रदेशों के सांस्कृतिक दलों का अपने राज्य में स्वागत किया है जिससे राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिला है; विभिन्न प्रदेशों के लोग एक-दूसरे की सांस्कृतिक सम्पदा का परिचय पा सके हैं। अकादमी ने एक विशेष योजना के अन्तर्गत देश के प्रतिष्ठित कलाकारों को अपने कैम्पों में आमंत्रित कर उनसे कलाकृतियां तैयार करने का निवेदन किया जिसके फलस्वरूप अकादमी के पास देश के प्रतिष्ठित कलाकारों की कृतियों का विशिष्ट संग्रह उपलब्ध हो सका है तथा अभिनव थियेटर, जम्मू के प्रांगण में समसामयिक मूर्तिकला की अद्भुत दीर्घा निर्मित हो सकी है। प्रतिवर्ष आयोजित की जाने वाली चित्रकला प्रदर्शनी ने प्रदेश के चित्रकारों को सम्मानित करने के साथ उन्हें आत्मविश्लेषण के अवसर भी उपलब्ध करवाए हैं। इसके अतिरिक्त अकादमी ने इन कलाकारों को दिल्ली, बम्बई आदि शहरों में प्रदर्शनियां आयोजित करने के लिए आर्थिक सहायता भी दी है।

अकादमी की स्थापना से पूर्व जम्मू-कश्मीर में रंगमंच की परम्परा नहीं के बराबर थी किन्तु अकादमी के प्रयासों से आज जिला स्तर पर नाट्य-समारोह आयोजित किए जाते हैं। अकादमी ने अपने स्तर पर भी नाटकों के प्रदर्शन आयोजित किए हैं और यह क्रम जारी है।

शिक्षा के सन्दर्भ में अकादमी ने उर्दू टाइपराइटिंग की शिक्षा देने; उर्दू किताबत तथा सूफ़ियाना मौसीक़ी की शिक्षा देने की भी व्यवस्था की है। प्रदेश के उत्साही नृतकों, रंगकर्मियों तथा कलाकारों को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए अकादमी ने उन्हें छात्रवृत्तियां प्रदान कर देश के प्रतिष्ठित संस्थानों में शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएं उपलब्ध कराई हैं। फलस्वरूप अनेक गुमनाम चेहरे आज अपने-अपने क्षेत्र के चमकदार नक्षत्र बनकर जगमगा रहे हैं। प्रदेश में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों को स्वेच्छा से बढ़ावा देने के कर्म में लीन स्वयंसेवी संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने के साथ अकादमी ने ज़रूरतमंद लेखकों / कलाकारों तथा उनके परिवारों के लिए आर्थिक सहायता उपलब्ध करवाने का प्रावधान भी किया है।

अकादमी की गतिविधियों का क्षेत्र व्यापक है अत: उसका संकेत मात्र देने से ही अकादमी की गतिविधियों की पूरी तस्वीर हमारे सामने उभर सकेगी—ऐसा मैं नहीं मानता। यह परिचय विस्तार की मांग करता है जिन उपलब्धियों और कमियों को दो-दो दिन के दो सेमिनारों में भी भली प्रकार रेखांकित नहीं किया जा सका उन्हें दो पन्नों पर उतार लेने की आकांक्षा भोली ही लगेगी। अत: इस संदर्भ में इतना ही कहना चाहूंगा कि जैसे-जैसे लेखक, कलाकार अकादमी से जुड़ते गए हैं वैसे-वैसे इसके क्षेत्र का विस्तार होता गया है और इस विस्तार की सम्भावनाएं अभी भी असीम हैं। जागरूक लेखकों, कलाकारों, पाठकों तथा दर्शकों के सहयोग से यह संस्था अपने सीमित साधनों के रहते असीमित सम्भावनाओं से साक्षात् कर सके—बस यही कामना है।

प्रस्तुत अंक की प्रारम्भिक योजना के अनुसार इसमें वे लेख दिए जाते थे जिन्हें अकादमी द्वारा आयोजित सेमिनारों में पढ़ा गया था। किन्तु बाद में हमें लगा कि उन निबन्धों और उन पर हुई बहस को अलग से पुस्तकाकार छापना अधिक श्रेयस्कर होगा ठीक उसी तरह जिस प्रकार साहित्यिक पत्रिका में इस अवसर की स्मृति को बनाए रखने के लिए नई क्षेत्रीय प्रतिभाओं की रचनाओं को प्रकाश में लाना श्रेयस्कर होगा। अकादमी के हिन्दी प्रकाशनों तथा 'शीराज़ा' की भूमिका पर जो लेख इस अंक में दिए गए हैं वे जहां पाठकों के लिए जानकारी जुटाने का माध्यम बने हैं वहीं हमारे लिए आत्मविश्लेषण का अवसर भी उपस्थित करते हैं। इस संदर्भ में विज्ञ और सहृदय पाठकों से हमारी अपेक्षा है कि वे बराबर हमारा मार्गदर्शन करते रह कर इस पत्रिका तथा अकादमी के हिन्दी प्रकाशनों की प्रगति में सहायक प्रमाणित होंगे।

अकादमी की रजत जयन्ती के इस अवसर पर 'शीराज़ा' के लेखकों और पाठकों को हमारी बधाई !

—रमेश मेहता

जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी के हिन्दी प्रकाशन

□ डॉ० निज़ाम उद्दीन

जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी की स्थापना सन् १९५८ ई० में इस उद्देश्य से की गई कि इस प्रदेश की संस्कृति और भाषा के विविध रूपों की झांकियां प्रस्तुत की जायें, उसके विषय में अनुसंधानात्मक कार्य तैयार किया जाये तथा उसको प्रकाशित किया जाये। स्थानीय लेखकों के प्रोत्साहनार्थ उनकी रचनाओं को अकादमी द्वारा निकाली जाने वाली पत्रिका में प्रकाशित किया जाये तथा लेखकों का श्रेष्ठ पुस्तकों पर पुरस्कार प्रदान किये जायें। जिन लेखकों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है उन्हें कुछ आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाये। लेखकों को अपनी पुस्तकें प्रकाशित करने की सुविधा के लिए आर्थिक सहायता अकादमी द्वारा दी जाये। इसमें संदेह नहीं कि अकादमी प्रत्येक क्षेत्र में आशातीत उन्नति कर रही है। कश्मीरी, डोगरी, उर्दू, हिन्दी तथा पंजाबी सभी भाषाओं के साहित्य को अकादमी प्रकाशित करती आ रही है। अब तक इस संस्था द्वारा ५०० पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं। जम्मू-कश्मीर अकादमी की इस प्रगति का श्रेय इससे और बढ़ जाता है कि इसने हिन्दी साहित्य को भी अत्यधिक प्रोत्साहित किया है। यद्यपि यह प्रदेश अहिन्दी भाषी प्रदेश है फिर भी अकादमी की हिन्दी-सेवाएं महत्त्वपूर्ण और स्मरणीय हैं। इसके द्वारा एक उच्च स्तरीय साहित्यिक पत्रिका नियमित रूप से प्रकाशित की जा रही है। यहां के हिन्दी लेखकों को हिन्दी की पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए पाण्डुलिपियों पर आर्थिक सहायता दी जा रही है, हिन्दी की श्रेष्ठ पुस्तकों को प्रतिवर्ष पुरस्कृत भी किया जाता है। हिन्दी पत्रिका के अतिरिक्त यहां की संस्कृति, कला तथा दर्शन आदि को प्रकाश में लाने के उद्देश्य से मौलिक व अनूदित ग्रन्थ तथा पुस्तकाकार रूप में 'हमारा साहित्य' शीर्षक से संग्रह भी प्रकाशित किये जा रहे हैं। इस प्रगति और प्रोत्साहन के पीछे कल्चरल अकादमी

के सचिव श्री मुहम्मद यूसुफ टेंग के गत्यात्मक व्यक्तित्व, अपूर्व कर्मठता, प्रगाढ़ रुचि, साहित्यानुराग, कार्यकुशलता तथा धर्मनिरपेक्षता की भावोर्मियां उद्वेलित हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनके निर्देशन में कल्चरल अकादमी ने बहुमुखी उन्नति की है। ऐसे निष्ठावान मेधाशील साहित्यसेवी ने हिन्दी के प्रति जो व्यक्तिगत रुचि प्रदर्शित की उसके लिए वह साधुवाद के पात्र हैं।

कल्चरल अकादमी के हिन्दी प्रकाशनों की चर्चा में 'हमारा साहित्य' का उल्लेख इस लिए आवश्यक है कि इसका वार्षिक प्रकाशन होता है। सन् १९६४ से अब तक यह नियमित रूप से निकल रहा है। यह आकार में काफी बड़े (१०० से २०० पृष्ठों तक) और सजिल्द हैं; मूल्यों में भी अधिक नहीं हैं। इनमें पहले सामान्यता लेख, कहानी, कविता आदि आते रहे, लेकिन अब कुछ वर्षों से किसी विशेष विषय पर ही उच्च स्तरीय शोधात्मक लेख दिये जाते हैं, जैसे १९७७ और १९७८ के 'हमारा साहित्य' में जम्मू और कश्मीर की हिन्दी कहानी और कविता की प्रगति पर निबन्ध प्रकाशित हुए हैं इनमें से कुछ प्रमुख कवियों तथा युवा पीढ़ी के रचना संसार पर केन्द्रित हैं। १९७९ के 'हमारा साहित्य' में डोगरी, कश्मीरी, तथा लद्दाखी-लोक-कथाओं, लोकगीतों पर लेख प्रकाशित किये गए हैं। इसे हम 'लोक साहित्य अंक' कह सकते हैं। डॉ० निज़ाम उद्दीन ने कश्मीरी लोक-कथाओं का सांस्कृतिक स्वरूप प्रस्तुत किया है, मोतीलाल क्यमू ने कश्मीरी लोक-नृत्य तथा मोतीलाल साकी ने कश्मीरीं में 'झूलागांत' पर लेख दिये हैं। डुग्गर प्रदेश के रीति-रिवाजों (चम्पा शर्मा), डुग्गर के लोक-विश्वास और प्रतीक (वीणा गुप्ता), कश्मीरी पंडितों में शादी की रस्में (शहीर इमाम) लद्दाखी लोकगीत (ङवागछेरिंग) आदि लेख इस प्रदेश की लोक-संस्कृति को आलोकित करने वाले हैं। १९८० का 'हमारा साहित्य' भी इसी लड़ी की एक कड़ी है। इसमें कश्मीरी शैव-दर्शन में सृष्टि (बलज्जिनाथ पंडित), कश्मीर में बुद्धमत का प्रभाव (ज० न० गनहार) डुग्गर-कुलदेवता (ओम स्वामी), डुग्गर-लोकनाच (विश्वनाथ खजूरिया), कश्मीरी वस्त्राभूषण (ज़रीफ अहमद), कश्मीरी लोकगीत (अली मुहम्मद लोन), कश्मीर की ललित कलाएं (अवतार कृष्ण राजदान) लेख लोक-संस्कृति की उज्ज्वलाभा) को समेटे हैं। लद्दाख के नववर्षोत्सव 'लोसर' पर छेवांग रिगजिन का निबन्ध भी पठनीय है। यह सभी निबन्ध शोधात्मक हैं। इसी परम्परा में एक श्रेष्ठ पुस्तक है १९७५ का 'हमारा साहित्य'; इसमें भी कश्मीरी और डोगरी लोक-साहित्य, उत्सव-पर्व, नदी-नाव-मांझी, बहू-बेटी; बसोहली चित्रकला पर अनुसन्धात्मक लेख प्रकाशित हुए हैं। 'हमारा साहित्य' के ये वार्षिक ग्रन्थ सामग्री की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और अनुसन्धान परक होने के कारण ये परम उपयोगी तथा संग्रहणीय हैं और शोध छात्रों के लिए मार्गदर्शक हैं।

'हमारा साहित्य' के अंकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनके निबन्ध सामग्री की दृष्टि से अनुसंधानात्मक हैं, और लेखकों की मानसिक रुचि के साथ उनका हिन्दी भाषा पर पूर्ण अधिकार स्पष्ट दिखाई देता है। श्रीरामनाथ शास्त्री का निबन्ध 'पंडित नीलकण्ठ – व्यक्ति एवं काव्य' के अंतर्गत उनके द्वारा रचित 'कीर्तिविलास' और 'श्री रणवीर प्रकाश' तथा 'श्री रणवीर रत्न विधान' काव्य-पुस्तकों की चर्चा की गयी है। पं० नीलकण्ठ ने दोहा, कवित्त, सवैया सरस शैली में रचे हैं। उन्होंने काव्य में चिकित्सा ग्रन्थ की रचना की है। बारह पृष्ठों की कीर्तिविलास' रचना में कुण्डली, दोहा, कवित्त आदि हैं। इस निबन्ध में उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण भी दिये गए हैं। यहां 'कीर्तिविलास' की यह कुण्डली देखिए—

रघुकुल मांहि विचारिये, रक्षक श्री कुलदेव।
बंदो श्रीपद ताहि के, वर्णों रघुकुल भेव ।।
वर्णों रघुकुल भेव, सेव सेवक वर दाई।
त्रिकुटा श्री परमेश्वरी, भैंड़, कालिका माई ।।
नीलकंठ कवि ज्यों कहै, श्री रघुनाथ सहाई।
मिल पांचों रक्षक भए, केवल रघुकुल मांहि ।।

इसी 'हमारा साहित्य' में विष्णुकान्त शास्त्री ने अपने पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री की चर्चा भी की है और उनकी हिन्दी काव्य-रचना 'मालिनी मन्दिर या फूलों की दुनिया' का सोदाहरण विवेचन किया है। डोगरी और हिन्दी के कवि पं० हरदत्त शर्मा के हिन्दी प्रेम और उनकी हिन्दी रचनाओं का विस्तार से वर्णन ओम गोस्वामी ने 'हमारा साहित्य' में ही किया है। हरदत्त की कविताओं का मूल स्वर आध्यात्मिक है। 'सत्संग गंगा' और 'भगवत्पदी' में उनके हिन्दी-पंजाबी भजनों का अगाध अनुराग था। एक स्थान पर हिन्दी की स्तुति उन्होंने यूं की है—

जय-जय ओंकार मुकुट धारिणी तारिणी शुभगाता,
सुगम मनोहर वर्णरत्नकलिते ललिते हिन्दी माता।
प्रकृति स्वयं शिक्षा देती है, तू ही विश्व की आशा है,
जन्म समय पर शिशु कहता है अ, अ, मेरी भाषा है।

अब यहां मौलिक और अनूदित साहित्य की चर्चा भी कुछ की जाय। कल्चरल अकादमी ने उपर्युक्त प्रकाशनों के अतिरिक्त कुछ और हिन्दी ग्रन्थों का प्रकाशन किया है जैसे 'गद्यांजलि' और 'पद्यांजलि' (१९६१) में अकादमी ने यहां के स्थानीय प्रतिनिधि लेखकों और कवियों की रचनाओं के संकलन निकाले। इन्हें हम अकादमी के प्रथम प्रकाशन कहेंगे। 'पद्यांजलि' में स्व० दुर्गा प्रसाद काचरू, स्व० पुरुषार्थवती, सत्यवती मलिक (जन्म १९०६), पृथ्वीनाथ पुष्प (१९१७) दीनूभाई पंत (१९१७) श्रीमती शांति गुप्ता, गंगादत्त विनोद, शकुन्तला, सुभाष भारद्वाज (१९२९) चन्द्रकान्त जोशी (१९२८) आदि के साथ शशिशेखर, रतनलाल शांत, पृथ्वीनाथ मधुप, मोहन निराश आदि की कविताएं संकलित हैं, जिनमें कवियों का हिन्दी काव्य-साधना के प्रति अगाध अनुराग स्वतः मुखरित है। इन रचनाओं में छायावादी कोमल भावनाओं, राष्ट्रीय चेतना, मानवतावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का प्रभाव ध्यातव्य है। सत्यवती मलिक ने हब्बा खातून का करुणामय भावपूर्ण जीवन दर्शाया है। काचरू ने 'पंकज' में कमल को 'जल के अरमानों का सार', 'मादकता का मधुआख्यान', के रूप में देखकर कहा है—

'प्रकृति का साक्षात् विनय, दूर गीत की सुमधुर लय।
शीतलता का वर संचय, दीन कीच का भाग्योदय।
संस्कृति का रसपूत हृदय !'

'दीपावली' (दीनूभाई पंत) में हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना को स्वर प्रदान किया है। शांति गुप्ता की कविता 'मधुर कितना था वह संसार' में पंत और महादेवी वर्मा का प्रभाव देखा जा सकता है, शशिशेखर की मौलिक भाव-कला सम्पदा उनकी 'दो भाव चित्र', 'एक खूबसूरत दिन' में देखी जा सकती है। एक सिद्ध कवि मोहन निराश का सरस गीत 'कहानियां और इतिहास सुकोमल भावनाओं का पारदर्शी रूप व्यंजित करता है।

कब मेंहदी थी बनी सुहागन, कब कुमकुम था बना सुहागा ?
कब चूड़ी सधवा हो गयी ? नथ का भाग्य भला कब जागा ?

कब काजल का रूप बना था ? कब पायल ने सोहर गाया ?
प्रहर शगुन के बात शगुन की, तो इतिहास रचा जाता है।

पुस्तक के अन्त में कवियों का परिचय भी दिया गया है। सन् १९६५-६६ में अकादमी ने 'कविदत्त ग्रंथावली' प्रकाशित की जिसमें कविवर की 'ब्रजराज पंचासिका', 'बारामाह' तथा 'वीरविलास' के मूल रूप संकलित हैं। कवि दत्त जम्मू के महाराजा रणजीत देव (१७३५-१७८१) के समकालीन थे, महाराजा उनके संरक्षक भी थे। उनकी महान हिन्दी-कृति 'वीर-विलास' १७६१-१७६६ के मध्य रची गई, यहां 'महाभारत' के 'द्रोणपर्व' का ब्रजभाषा में प्रगल्भविद्वत्ता के साथ ललित भायव्यंजना तथा कोमलकान्त पदावली में अनुवाद किया है जो ४०० पृष्ठों से अधिक है। ग्रन्थावली का सम्पादन प्रो० गौरीशंकर ने किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थावली ५३२ पृष्ठों की है। 'वीरविलास' की ८० पृष्ठों की भूमिका इसके कथ्य और शिल्प को अभि-व्यंजित करती है। 'ब्रजराज पंचासिका' का ५३ पदों में मूल भी संकलित है। इसके बाद उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवरण अंकित है। दत्त कवि के १२ पदों के 'बारह माह' को भी मूल रूप में दिया है। यह ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके संवाद रसाप्यायित एवं प्रभविष्णु हैं, उन में मूल जैसी ही सजीवता है। बारहवें अध्याय का आरम्भ देखिए—

संजय उवाच— अभिमन व्यूह प्रवेसकर, मथ्यो सकल कुरु सेन।
दौरे सब अभिमन्न को, कर कर राते नैन।।
रोक्यो बान समूह सों, ता छिन अर्जुन बाल।
हन्यो सूत वृष सैन को, छेद्यो धनुष विशाल।।

'शब्द जो तुमने दिये' (१९७९) में प्रथम बार अकादमी ने प्रदेश के हिन्दी लेखकों के निबन्धों का संकलन विशेष संदर्भों को ध्यान में रखकर तैयार किया। इसमें ललित निबन्धों को विशेषतः समाविष्ट करने का प्रयास रहा, 'शब्द तुमने रचे' (रतनलाल शांत), 'धारा वितस्ता की' (कृष्णा रैणा), 'आहत चीड़ें' (अशोक जेरथ), 'कहानी और मैं', (ओ० पी० शर्मा) आदि निबन्ध ललित कोटि में ही आयेंगे। इस संकलन से जाहिर है कि जम्मू-कश्मीर के लेखकों में निबन्ध रचने की क्षमता-दक्षता मौजूद है। यह १६ निबन्धों का संकलन अति रोचक, मधुर भाषा में लिखा, पठनीय है। लेकिन इसके बाद कोई ऐसा प्रयास नहीं हुआ। 'चीड़ों में ठहरी बयार' में स्थानीय हिन्दी लेखकों की रचनाओं को संकलित किया गया है। 'सहस्रमुखी' में वंशी—लाल सूरी की कविताओं को सम्पादित किया है—रमेश मेहता ने। मौलिक साहित्य का प्रकाशन हिन्दी में कम हुआ है। अकादमी को इधर कुछ कारगर कदम उठाने चाहिए।

अनुवाद का कार्य फिर भी अधिक हुआ है, इसका अपना महत्त्व है, लेकिन इस क्षेत्र में बहुत कार्य करना शेष है। दो-चार पुस्तकें अभी तक छपी हैं जिन्हें किसी भी तरह पर्याप्त नहीं माना जा सकता। अनुवाद प्रकाशित करने में यह कठिनाई अवश्य आती है कि हिन्दी लिपि में कश्मीरी मूल रचना पूर्णतः शुद्ध रूप में नहीं दी जा सकती। 'कश्मीरी लोक कथाएं' तथा 'डोगरी लोक कथाएं, (१९७२) में क्रमशः १५ और २६ लोक-कथाओं के हिन्दी भाषान्तर विभिन्न लेखकों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। सभी कहानियां रोचक, सुबोध शैली में लिखी मनोरंजक हैं। कश्मीर में ऋषि परम्परा के प्रवर्तक शेखनूरुद्दीन वली (१३७६-१४३८) की ६००वीं जन्म-शती १९७६-७७ में मनाई गयी तो अकादमी ने उनके कलाम का चयनित रूप हिन्दी में अनू-दित कराकर प्रकाशित किया। 'कश्मीरी संत-परम्परा के इस प्रतीक पुरुष और कश्मीरी काव्य के इस आदि उन्नायक की विचार-दृष्टि और काव्य-रस से कश्मीरी-इतर भाषी अधिक परिचित

नहीं हैं।' भारत की समन्वित संस्कृति के विकास का इतिहास और भारतीय काव्य की मूलभूत समानताओं की सही समझ उत्पन्न करने की दृष्टि से शेखनूरुद्दीन के काव्य का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है। श्री मुहम्मद यूसुफ टेंग के इस उदार विचार ने अकादमी को इस प्रकार के रूपान्तर निकालने की सत्प्रेरणा प्रदान की। 'कहा था ऋषि ने' में शशिशेखर ने २०१ श्लोकों का भाषान्तर दिया है जो पद्यात्मक है। १४ पृष्ठों की रूपान्तरकार की सारगर्भित और विद्वत्ता-पूर्ण भूमिका भी दी गई है। डॉ० रतनलाल शांत, डॉ० बद्रीनाथ कल्ला आदि ने भी 'नुन्दऋषि' नाम से कुछ श्लोकों का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है, इसे भी अकादमी ने ही १९८३ में प्रकाशित किया है। इसमें भी मूल श्लोक नहीं दिये गए। अकादमी ने 'ललद्यद' शीर्षक से लल्लेश्वरी के 'वाखों' का हिन्दी अनुवाद १९७६ में प्रकाशित किया। शंभुनाथ भट्ट हलीम ने इस पुस्तक में कश्मीरी भाषा की आदि कवयित्री योगेश्वरी ललद्यद (१४वीं शती) के 'वाखों' को कश्मीरी मूल के साथ अनूदित किया है, यह अनुवाद गद्य में है। इसकी भूमिका जयलाल कौल और नन्दलाल कौल 'तालिब' ने २५ पृष्ठों में देकर इसकी गरिमा को बढ़ाया है। शेखनूरुद्दीन और ललद्यद की रचनाओं में पुरातन अप्रचलित शब्द व्यवहृत हैं, उनका अर्थ समझना कठिन होता है। भट्ट जी ने प्रस्तुत संकलन के अंत में ऐसे शब्दों का अर्थ हिन्दी में देकर पाठकों के लिए उपयोगी सामग्री जुटाई है। मूल सहित गद्यात्मक अनुवाद होने के कारण इस पुस्तक का महत्त्व और उपादेयता बढ़ी है। 'पोशिमाल' शीर्षक से कश्मीरी भाषा के विख्यात लोकप्रिय कवि रसूलमीर (१९वीं शती) के गीतों, ग़ज़लों का पद्यात्मक अनुवाद 'शांत' जी ने किया है। ६४ पृष्ठों की इस छोटी-सी पुस्तक में पाठकों को रसूलमीर की श्रृंगारिकता, उनकी रसिकता, उनका उक्तिवैचित्र्य बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों के सदृश दिखलाई पड़ेगा। अकादमी ने १९८१ में 'परमानंद प्रवाह' शीर्षक से कविवर परमानन्द की कश्मीरी कविताओं का प्रो० पृथ्वीनाथ पुष्प द्वारा संकलन और रूपान्तर प्रकाशित किया। इसमें कविवर परमानंद की 'सुदामाचरित', 'राधास्वयंवर' और 'शिवलग्न' के कुछ भाग लिये हैं, फुटकर रचनाओं में से भी कुछ का चयन किया है, कुछ सूक्तियों को इसमें शामिल किया है। रूपान्तर पद्यात्मक हैं जिसमें लीलागीतों के तालविधान को मूल जैसा रखा गया है। कविवर परमानंद (१७९१-१८७९) की रचनाओं का इस पुस्तक में संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। इनके अतिरिक्त अकादमी ने और पुस्तकों के भी अनुवाद छापे हैं—जैसे अली मुहम्मद लोन की नाट्यकृति 'सुय्या', मोतीलाल क्यमू का नाटक 'छाया', 'प्रतिनिधि कहानियां—कश्मीरी', 'प्रतिनिधि कहानियां—डोगरी, 'प्रतिनिधि पंजाबी कहानियां', 'प्रतिनिधि डोगरी एवं कश्मीरी एकांकी' और जम्मू-कश्मीर के उर्दू लेखकों की प्रतिनिधि रचनाएं 'कोहरा और धूप' तथा डोगरी लोक गीतों का अनुवाद 'थिरके पत्ता पीपल का।' इनसे अकादमी की बहुआयामी और बहुउद्देश्यीय योजना का ब्योरा सुलभतया ज्ञात हो जाता है। पृथ्वीनाथ मधुप ने कश्मीरी लोकगीतों का 'वाणी वितस्ता की' नाम से पद्यमय सुन्दर अनुवाद किया है। डॉ० अयूब प्रेमी ने 'प्रतिनिधि कश्मीरी कविताएं' शीर्षक से विभिन्न कवियों की कश्मीरी कविताओं को पद्य में अनूदित किया है।

□

अकादमी के हिन्दी प्रकाशनों का विवरण

चीड़ों में ठहरी बयार : जम्मू-कश्मीर के हिन्दी लेखकों की १९६० से १९७६ तक की रचनाओं का प्रतिनिधि संकलन। सम्पादक : रमेश मेहता। मूल्य : १४.०० रुपये

दत्त कवि : कविदत्त की रचनाओं का महत्त्वपूर्ण संकलन। प्रो० गौरी शंकर की भूमिका सहित। मूल्य : ११.२५ रुपये।

देश प्यार के गीत : केहरि सिंह मधुकर द्वारा सम्पादित जम्मू-कश्मीर के लेखकों के देश प्यार के गीतों का संकलन। मूल्य : ०.२५ पैसे

पद्यांजलि : सन् १९५०-६० के आसपास जम्मू-कश्मीर में लिखी जाने वाली कविता का प्रतिनिधि संकलन। सम्पादक : सर्वश्री सुभाष भारद्वाज, चन्द्रकांत जोशी और पृथ्वी नाथ पुष्प। मूल्य २.४० रुपये।

गद्यांजलि : सन् १९५०-६० के आसपास जम्मू-कश्मीर में लिखे जा रहे गद्य का प्रतिनिधि संकलन। सम्पादक : सर्वश्री बी०डी० शास्त्री, वेद राही, पृथ्वीनाथ पुष्प। मूल्य : २.५० रुपये।

सहस्रमुखी : बन्सीलाल सूरी की कविताओं का प्रतिनिधि संकलन। भूमिका : धर्मचन्द्र प्रशांत। सम्पादक : रमेश मेहता। मूल्य : १४.५० रुपये।

शब्द जो तुमने दिए : जम्मू-कश्मीर के हिन्दी लेखकों के ललित निबन्धों का प्रतिनिधि संकलन। सम्पादक : रमेश मेहता। मूल्य : ६.५० रुपये।

अनुवाद

कोहरा और धूप : जम्मू-कश्मीर के उर्दू लेखकों की ग़ज़लों, नज़्मों, कहानियों, निबन्धों और एकांकियों का प्रतिनिधि संकलन : हिन्दी में पहली बार। सम्पादक : रमेश मेहता। २०० पृष्ठ से भी ऊपर की सामग्री। मूल्य : १२.४० रुपये।

प्रतिनिधि डोगरी और कश्मीरी एकांकी : डोगरी और कश्मारी के प्रतिनिधि एकांकियों का महत्त्वपूर्ण संकलन। सम्पादक : रमेश मेहता। मूल्य : १२.५० रुपये।

प्रतिनिधि कहानियां— डोगरी की श्रेष्ठ कहानियों का संकलन। सम्पादक : रमेश मेहता।
डोगरी : मूल्य ६.२५ रुपये

प्रतिनिधि कहानियां—कश्मीरी की श्रेष्ठ कहानियों का संकलन। सम्पादक : रमेश मेहता।
कश्मीरी : मूल्य ४.०० रुपये।

आधुनिक डोगरी डोगरी साहित्य की विकास यात्रा का प्रामाणिक विवरण।
साहित्य एक परिचय : मूल लेखक : नीलाम्बर देव शर्मा। अनुवादक : सुभाष भारद्वाज। मूल्य : ७.५० रुपये।

छाया : साहित्य अकादमी द्वारा सम्मानित नाटककार मोतीलाल क्यमू के सुप्रसिद्ध कश्मीरी नाटक 'साय' का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक : हरिकृष्ण कौल। मूल्य ४.८० रुपये।

डोगरी काव्य सुषमा : श्यामलाल शर्मा द्वारा संकलित एवं सम्पादित डोगरी कविताओं का प्रतिनिधि संकलन। मूल्य : ५.०० रुपये

डोगरी लोक कथाएं : महत्त्वपूर्ण डोगरी लोककथाओं का हिन्दी अनुवाद। सम्पादक : श्यामलाल शर्मा। मूल्य ३.७५ रुपये।

कश्मीरी लोककथाएं : महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिनिधि कश्मीरी लोककथाओं का हिन्दी अनुवाद। सम्पादक : श्यामलाल शर्मा। मूल्य ३.७५ रुपये।

कहा था ऋषि ने : कश्मीर के प्रतिष्ठित संत-कवि शेख नूर-उद्-दीन नूरानी के प्रतिनिधि श्लोकों का हिन्दी रूपान्तर। रूपान्तरकार : डॉ० शशि शेखर तोषखानी। मूल्य : ४.५० रुपये।

नुन्द ऋषि : शेख-उल्-आलम के कलाम का हिन्दी अनुवाद। 'कहा था ऋषि ने' की अगली कड़ी। मूल्य १६.५० रुपये।

ललद्यद : कश्मीर की प्रतिष्ठित कवयित्री 'ललद्यद' के कश्मीरी वाखों का हिन्दी अनुवाद···मूल कश्मीरी वाखों सहित। संकलन एवं सम्पादन : शम्भुनाथ भट्ट हलीम। मूल्य : ५.२५ रुपये।

परमानन्द प्रवाह : कश्मीर के सुपरिचित एवं प्रतिष्ठित भक्त-कवि परमानन्द की कश्मीरी कविताओं का हिन्दी अनुवाद। संकलन, सम्पादन एवं अनुवाद : पृथ्वीनाथ पुष्प। मूल्य : ११.२० रुपये।

पोशिमाल : कश्मीरी के रसिक कवि रसूल मीर की मुख्य रूप से शृंगारिक कविताओं का हिन्दी अनुवाद। संकलन, अनुवाद एवं सम्पादन : रतनलाल शांत। मूल्य : ५.०० रुपये

प्रतिनिधि कश्मीरी कविताएं : डॉ० अयूब प्रेमी द्वारा अनूदित एवं सम्पादित प्रतिनिधि कश्मीरी कविताओं का महत्त्वपूर्ण संकलन। मूल्य : ५.७५ रुपये।

प्रतिनिधि पंजाबी कहानियां : जम्मू-कश्मीर के पंजाबी लेखकों की चर्चित कहानियों का, हिन्दी में प्रथम बार प्रकाशित, महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी संकलन। सम्पादक : रमेश मेहता। मूल्य ८.०० रुपये।

सुय्या : साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत कश्मीरी नाटक का हिन्दी अनुवाद। लेखक-अनुवादक : अली मुहम्मद लोन। मूल्य : ५.२५ रुपये।

थिरके पत्ता पीपल का : डॉ० ओम प्रकाश गुप्ता द्वारा विभिन्न प्रकार के डोगरी लोकगीतों का संकलन एवं अनुवाद। दूसरा संस्करण सन् १९८४ में प्रकाशित। मूल्य : १६ रुपये।

वाणी वितस्ता की : कश्मीरी लोकगीतों की मनोरम झांकी प्रस्तुत करने वाली अकेली कृति। संकलन एवं अनुवाद : पृथ्वीनाथ मधुप। मूल्य : ६.२५ रुपये।

सरपंच : साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत डोगरी नाटक का हिन्दी अनुवाद। मूल एवं अनुवाद : दीनूभाई पंत। मूल्य : ४.५५ रुपये।

वार्षिक संकलन 'हमारा साहित्य'

सन् १९६४ से १९८२ तक प्रकाशित १८ भाग। सन् १९७४ तक प्रकाशित अंकों में हिन्दी गद्य और पद्य के सुन्दर संकलन। सन् १९७५ से विभिन्न विषयों पर केन्द्रित संकलन…

१९७५—भारतीय लोक साहित्य के संदर्भ में जम्मू-कश्मीर के लोक साहित्य का विशिष्ट अध्ययन। मूल्य : ९.०० रुपये।

१९७६—विभिन्न भाषाओं के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन। मूल्य : ६.५० रुपये

१९७७—जम्मू-कश्मीर के हिन्दी लेखन पर विशेष लेखों का संग्रह। मूल्य : ६.५० रुपये।

१९७८—जम्मू-कश्मीर के हिन्दी कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विशेष सामग्री। मूल्य : ८.५० रुपये।

१९७९—कश्मीरी, डोगरी और पंजाबी लोक साहित्य पर विशेष लेख। मूल्य : ८.०० रुपये

१९८०—जम्मू-कश्मीर की सांस्कृतिक विरासत। मूल्य : ९.५० रुपये।

१९८१—डोगरी साहित्य की उपलब्धियों का मूल्यांकन। मूल्य ९.६० रुपये।

१९८२—कश्मीरी साहित्य की उपलब्धियों का मूल्यांकन।

सन् १९६४ से १९६८ तक के अंकों के सम्पादक : नरेन्द्र खजूरिया। हमारा साहित्य १९६९ के सम्पादक : केहरि सिंह मधुकर। १९७०-७२ के सम्पादक श्यामलाल शर्मा। १९७३ से ८२ के सम्पादक : रमेश मेहता। □

हिन्दी के साहित्यिक लेखन और पत्रकारिता को 'शीराज़ा' का योगदान

□ डॉ० नरेन्द्र मोहन

शीराजा (हिन्दी) ने अपने प्रकाशन के १९ वर्ष पूरे कर लिये हैं। किसी भी साहित्यिक पत्रिका के लिए यह कम उम्र नहीं है। इस लम्बे दौर में इसका स्वरूप स्थिर हुआ है। इस पत्रिका की लम्बी यात्रा का, इसके प्रस्थान बिन्दुओं और पड़ावों का, इसकी उपलब्धियों और कमियों का, इसके ज़रिये उठती रही साहित्यिक समस्याओं, पहलुओं और बहसों का लेखा-जोखा लेना जरूरी है।

शुरू में ही **शीराजा** के प्रकाशन की पृष्ठभूमि और इतिहास को जान-समझ लेना चाहिए। इसका प्रकाशन ललित-कला, संस्कृति व साहित्य अकादमी, जम्मू व कश्मीर के तत्त्वावधान में सन् १९६५ से प्रारम्भ हुआ था। इसके प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य था जम्मू और कश्मीर के लेखकों को सामने लाना, उन्हें प्रोत्साहित करना, उन्हें भारतीय भाषाओं, विशेष तौर पर हिन्दी की मुख्य धारा से जोड़ना जिससे कि वे अपनी सृजनात्मक क्षमता का विकास कर सकें। इसमें सन्देह नहीं कि 'शीराजा' ने इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है।

शुरू में यानी १९६५ से १९६९ तक 'शीराजा' के वर्ष में दो अंक प्रकाशित होते रहे। इस कालावधि में इसका सम्पादन किया श्री नरेन्द्र खजूरिया ने। उन्होंने इसे एक पुष्ट और व्यापक साहित्यिक-सांस्कृतिक आधार-प्रदान किया। प्रादेशिक और अखिल भारतीय स्तर की साहित्यिकता-कलात्मकता के बीच उन्होंने इस पत्रिका के माध्यम से एक पुल का काम किया। १९६९ से यह पत्रिका त्रैमासिक रूप से निकलनी शुरू हुई। १९७० में इसके सम्पादक बने श्री केहरि सिंह मधुकर। उनके सम्पादन में पत्रिका पूरी तरह से प्रादेशिक सीमा में सिकुड़ गयी और सार्थक साहित्यिक आदान-प्रदान रुक-सा गया। १९७२ से सितम्बर १९७३ तक इसका सम्पादन किया श्री श्याम लाल शर्मा ने। सितम्बर-दिसम्बर १९७२ का रजत जयन्ती अंक उनके सम्पादन काल का एक उल्लेखनीय अंक है। सितम्बर १९७३ में इसके सम्पादक बने श्री रमेश मेहता जो अपनी कविताओं तथा अन्य रचनाओं के लिए पहले ही चर्चित हो चुके थे। १९७३ से अब तक 'शीराजा' के अंक उन्हीं के सम्पादन में निकल रहे हैं। उन्होंने हिन्दी जगत से प्रदेश के हिन्दी लेखकों का परिचय ही नहीं कराया, उन्हें हिन्दी लेखक बिरादरी का हिस्सा बनाने का भी भरसक प्रयास किया है। उन्होंने प्रदेश की साहित्यिक आकांक्षाओं को वृहत्तर

फलक पर राष्ट्रीय साहित्यिक धारा से जोड़ने का स्तुत्य कार्य किया है।

जाहिर है कि दो दशकों की लम्बी यात्रा में 'शीराज़ा' ने कई उतार-चढ़ाव देखे हैं, इस के रूप और कलेवर में परिवर्तन होते रहे हैं और संपादक बदलते रहे हैं। अब तक चार संपादकों की सम्पादन-कला की छाप इस पर अंकित हो चुकी है—कुछ पर गहरी, कुछ पर धुंधली। सम्पादकों के मानसिक, बौद्धिक और सृजनात्मक स्तर और व्यक्तित्व के अनुरूप पत्रिका के स्तर और चरित्र में परिवर्तन होते जाना स्वाभाविक है। इस परिवर्तन को 'शीराज़ा' के अंकों में प्रतिबिंबित हुआ देखा जा सकता है।

'शीराज़ा' का पहला अंक अप्रैल, १६६५ में श्री नरेन्द्र खजूरिया के सम्पादन में निकला था। इस अंक से ही इस पत्रिका के प्रस्थान-बिन्दुओं और सम्पादन नीतियों का आभास हो जाता है। किसी प्रादेशिक केन्द्र से सरकारी माध्यम से निकल रही साहित्यिक पत्रिका का यह दायित्व होता है कि उसमें प्रदेश के लेखकों, प्रदेश से जुड़े सांस्कृतिक सवालों, कलात्मक और साहित्यिक परम्पराओं और प्रवृत्तियों को स्थान मिले। इससे एक ओर प्रदेश के लेखकों को प्रकाशन का अवसर मिलता है, दूसरी ओर प्रदेश का सांस्कृतिक, कलात्मक और साहित्यिक बिम्ब और पहचान सामने आती है। प्रादेशिक बिम्ब और पहचान का यह अर्थ कदापि नहीं है कि देश के व्यापक-सांस्कृतिक, कलात्मक और साहित्यिक संस्कारों और सरोकारों से वह कट जाए। अगर ऐसा होता है तो यह एक तरह का सांस्कृतिक-साहित्यिक अपवर्जन होगा जो अन्ततः 'कुएं के मेंढक' की-सी स्थिति में पहुंचा देता है। किसी पत्रिका का अपने लिए इस तरह की हदबन्दी कर लेना स्तरहीनता और संस्कृतिहीनता की ओर पहला कदम हो सकता है। 'शीराज़ा' के प्रारम्भिक अंकों से ही इस दृष्टि से जागरूकता मिलेगी जो लगातार बढ़ती गयी है। पहले अंक में प्रदेश के जो लेखक प्रकाशित हुए हैं, उनमें से कुछ मुख्य हैं पृथ्वीनाथ पुष्प, पृथ्वीनाथ मधुप, सुभाष भारद्वाज, मोहन निराश आदि। इन लेखकों ने आगे चलकर लोगों का ध्यान और अधिक आकृष्ट किया। हर अंक के साथ नये लेखक जुड़ते गए और 'शीराज़ा' का लेखक-परिवार बढ़ता गया।

यहीं प्रश्न उठता है प्रादेशिक लेखकों के उपेक्षित रह जाने का। जम्मू-कश्मीर के हिन्दी लेखकों में यह भावना रही है और आज भी एक हद तक है कि उनका लेखन उपेक्षित रह जाता है। उनका यह आरोप है कि हिन्दी के वृहत्तर साहित्यिक संसार ने उनकी उपेक्षा की है। रमेश मेहता ने इस बात को अपने एक सम्पादकीय में भी उठाया है। उनका कहना है: 'यह कहने से कि हिन्दी के वृहत्तर साहित्यिक-संसार के महारथियों ने इस अंचल से साहित्यकारों की उपेक्षा करते हुए उन्हें उचित स्तर पर मान्यता देने में कोताही की है, हम अपनी कमजोरियों को स्वीकार करते से लगते हैं। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि हम में से कितने लेखकों ने अपनी अस्मिता की स्थापना के लिए ऐसा घनघोर संघर्ष किया है कि बाहर के लोगों का ध्यान बरबस हमारी ओर आकृष्ट हो सके।' ऐसे लेखक जो स्वयं को उपेक्षित-सा महसूस करते हैं, उन्हें इन पंक्तियों पर ग़ौर करना चाहिए। लेखकीय अस्मिता के लिए संघर्ष करने के सिवा अन्य कोई रास्ता नहीं है। जम्मू-कश्मीर के लेखकों के लिए यह ज़रूरी है कि वे इस बात को पहचानें और अपने दायित्व को सही संदर्भों में निभायें।

'शीराज़ा' त्रैमासिक रूप में सन् १६६६ में प्रकाशित होनी शुरू हुई थी। त्रैमासिक कालावधि में प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं के सामने कई दिक्कतें रहती हैं। पहली दिक्कत है सामग्री की स्तरीयता की। मधुमती, आजकल, साक्षात्कार, पूर्वग्रह, गंगनांचल, शिविरा,

हिमप्रस्थ आदि पत्रिकाओं के सामने यह दिक्कत रहती ही है। इन पत्रिकाओं को अच्छी स्तरीय सामग्री प्राप्त करने के लिए जुटकर काम करना पड़ता है। 'शीराज़ा' भी इस दृष्टि से अपवाद नहीं है। स्तरीय सामग्री का चयन एक जटिल समस्या है—खास तौर पर उन पत्रिकाओं के लिए जो किसी प्रदेश से, सरकारी संस्थान से निकाली जाती हैं। ऐसी पत्रिकाओं को एक ओर स्तर का ध्यान रखने के लिए जूझना पड़ता है, दूसरी ओर स्तर को दरगुजर करके प्रदेश के नये लेखकों को स्थान देने की समस्या का सामना करना होता है। सरकारी संस्थानों से निकल रही पत्रिकाओं की इस मनोवैज्ञानिक उलझन को समझना-आंकना खासा दिलचस्प अध्ययन हो सकता है।

इन पत्रिकाओं में स्तर की दृष्टि से जो अस्थिरता और असन्तुलन अक्सर दिखता है उसकी एक मनोवैज्ञानिक वजह है स्थानीय और प्रादेशिक दबाव, और वहां के लेखकों-पाठकों की आकांक्षाएं। इन दबावों और आकांक्षाओं को रद्द नहीं किया जा सकता। हां, सम्पादकीय विवेक द्वारा सन्तुलन अर्जित किया जा सकता है। 'शीराज़ा' के अंकों में इस ढंग से सन्तुलन को अर्जित करने की कोशिश झलकती है। सम्पादक ने कभी विषय विशेष पर प्रादेशिक लेखकों के बीच परिचर्चाएं आयोजित करके सन्तुलन साधने की कोशिश की है, तो कभी उनके आत्म कथ्य को प्रकाशित करके, कभी उनसे साहित्यिक-सांस्कृतिक विषयों पर लेख लिखवा करके तो कभी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों पर उनकी समीक्षाएं छाप करके। 'शीराज़ा' का अंक ४६ में प्रदेश के नए हस्ताक्षरों को प्रस्तुत किया गया है। 'अपनी बात' में सम्पादक ने लिखा है: 'इस दृष्टि से यदि देखें तो यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि हम एक संक्रमण काल से गुजर रहे हैं जिसमें नयी से नयी प्रतिभाओं को अवसर देने की जिम्मेदारी 'शीराज़ा' जैसी पत्रिकाओं को निभानी है। इन हस्ताक्षरों की कलम में वैसे दम-खम शायद अभी नहीं हैं जो एक लम्बे रियाज़ के बाद पनपते हैं, तो भी ये हस्ताक्षर अपनी सर्जनात्मक ललक और सूझ-बूझ की गवाही अवश्य देते हैं।' यह कथन संतुलित संपादकीय दृष्टि का परिचायक है। संपादकीय दृष्टि के इस संतुलन को लगभग हर अंक में, खास तौर पर, विशेषांकों में लक्षित किया जा सकता है। इस दृष्टि का लाभ यह हुआ है कि जम्मू-कश्मीर के लेखकों को प्रकाश में आने का, प्रकाश में आने का ही नहीं, हिन्दी लेखन की मुख्य धारा में साझेदारी पाने का अवसर मिला है। कविता के क्षेत्र में, 'शीराज़ा' में प्रकाशित मोहन निराश, शशि शेखर तोषखानी, अशोक जेरथ, रतनलाल शांत, रमेश मेहता, निर्मल विनोद, ओमप्रकाश गुप्त, उपेन्द्र रैणा, महाराज कृष्ण संतोषी, जफर अहमद, चन्द्रकांत जोशी, जवाहर रैणा, सुतीक्ष्ण कुमार 'आनन्दम', अग्निशेखर, अशोक कुमार, कुमार पुष्कर, जया शर्मा, सुशांत चौधरी और रचना शर्मा की कविताएं समकालीन हिन्दी कविता के विभिन्न 'मूड्स' और मुहावरों को आत्मसात किये हुए हैं। आलोचना के क्षेत्र में डॉ० निज़ामुद्दीन, हरिकृष्ण कौल, डॉ० राजकुमार, डॉ० ओमप्रकाश गुप्त, रतनलाल शांत अशोक जेरथ, डॉ० अनिल गोयल ने अच्छा काम किया है। कहानी के क्षेत्र में वेद राही 'शीराज़ा' के प्रकाशन से पूर्व अखिल भारतीय स्तर पर कहानीकार के तौर पर ख्याति अर्जित कर चुके थे। छत्रपाल भी इस दृष्टि से तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। शिवरैना, अवतार कृष्ण राज़दान, सुभाष भारद्वाज, दीदार सिंह, उषा व्यास, महाराज कृष्ण शाह, क्षमा कौल भी संभावनाशील कहानीकार हैं। सुतीक्ष्ण कुमार शर्मा 'आनन्दम' इस क्षेत्र के उभरते हुए नाटककार हैं। 'शीराज़ा' इन कवियों, लेखकों के लिए संयुक्त साहित्यिक मंच का काम करती रही है और कर रही है।

'शीराज़ा' ने यह काम सूझ-बूझ से और योजनाबद्ध ढंग से किया है। यह काम अधूरा और एकांगी रह जाता अगर यह पत्रिका प्रदेश के लेखकों तक सीमित रह जाती। तब अन्य लेखकों से विनिमय का, उनके विचारों को जानने-समझने और उनसे टकराने का मौका ही न मिलता। 'शीराज़ा' ने यह मौका अपने लेखकों को दिया है। हिन्दी के उच्चकोटि के, प्रतिष्ठित और चर्चित कवि-लेखकों के सान्निध्य में प्रदेश के लेखकों को छापकर 'शीराज़ा' ने सांस्कृतिक और साहित्यिक आदान-प्रदान को गहराया है और हम देखते हैं कि इसके अच्छे नतीजे सामने आए हैं। एक ओर वे श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, विष्णु कांत शास्त्री, सिद्धेश्वर वर्मा के साथ छपे हैं तो दूसरी ओर डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० रमेश कुंतल मेघ और श्री प्रभाकर माचवे के साथ; एक ओर वे डॉ० रघुवंश, डॉ० गोपाल और डॉ० सुरेश धींगड़ा के साथ सटे बैठे हैं तो दूसरी ओर डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, श्री विष्णु प्रभाकर और श्री रामदेव आचार्य के साथ; एक ओर वे डॉ० रामदरश मिश्र, अजित कुमार और डॉ० नरेन्द्र मोहन के साथ विचार-विनिमय में संलग्न दिखते हैं तो दूसरी ओर प्रो० श्यामाचरण दुबे, डॉ० महीप सिंह और विवेकी राय के साथ; एक ओर वे डॉ० श्याम परमार, डॉ० विनय और पुष्पपाल सिंह के सान्निध्य में बैठे दिखते हैं तो दूसरी ओर डॉ० बलदेव वंशी, डॉ० हरदयाल और डॉ० चन्द्रशेखर के सान्निध्य में। उच्च कोटि के और चर्चित कवियों की संगति उन्हें लगभग हर अंक में मिली है। अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र, शम्भुनाथ सिंह, स्नेहमय चौधरी, जगदीश चतुर्वेदी, बलदेव वंशी, गंगा प्रसाद विमल, चन्द्रकांत देवताले, नरेन्द्र मोहन, इन्दु जैन, प्रयाग शुक्ल, दिनकर सोनवलकर, राजकुमार कुम्भज, वीर सक्सेना और दिविक रमेश आदि कवियों के साथ छपने से उन्हें प्रोत्साहन मिला है और उनमें हिन्दी साहित्य से जुड़े होने का, अपनेपन का भाव पैदा हुआ है। इसी तरह वे श्रेष्ठ और चर्चित कहानीकारों— भीष्म साहनी, देवेन्द्र इस्सर, अब्दुल बिस्मिल्लाह मंजुल भगत, दीप्ति खंडेलवाल, से० रा० यात्री, अरुण कुमार, कुलभूषण और रामजी मिश्र की संगति में भी देखे जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रदेश के आलोचकों, कवियों, कहानीकारों और नाटककारों को आगे लाने का, उनकी प्रतिभा को धार देने का, उन्हें व्यापक हिन्दी बिरादरी का अंग बनाने का श्रेय, बड़ी हद तक 'शीराज़ा' को जाता है। हिन्दी के साहित्यिक लेखन और पत्रकारिता को 'शीराज़ा' का यह ऐतिहासिक योगदान है।

ग़ौर करने की बात है कि अब तक 'शीराज़ा' के विभिन्न महत्त्वपूर्ण विषयों पर १२ विशेषांक प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें से कुछ उल्लेखनीय विशेषांक हैं—'अरविन्द विशेषांक', 'इकबाल विशेषांक', 'कहानी विशेषांक', 'कविता विशेषांक' और 'व्यंग्य विशेषांक'। 'शीराज़ा' के 'उपन्यास विशेषांक' (अंक ५३) और 'एकांकी नाटक विशेषांक' (अंक ३९-४०) भी प्रकाशित हुए हैं; पर ये सुनियोजित नहीं हैं, इनमें बिखराव है। इनसे तो वे अंक अच्छे हैं जो किसी लेखक विशेष और किसी थीम पर केन्द्रित हैं जैसे प्रेमचन्द पर केन्द्रित 'शीराज़ा' का अंक ५० और जम्मू-कश्मीर के लोक-साहित्य से सम्बन्धित 'शीराज़ा' का जून ८४ अंक। **अरविन्द विशेषांक** (मार्च, १९७४) की खासियत यह है कि इसमें अरविन्द के व्यक्तित्व, उनके दर्शन और उनकी कला का विवेचन-विश्लेषण प्रदेश के सर्जक विचारकों और लेखकों ने किया है। **इकबाल विशेषांक** (दिसम्बर ७५, मार्च ७६ अंक) तो बेजोड़ है। डॉ० अब्दुल हक, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० प्राणनाथ तृच्छल, प्रकाश पंडित, डॉ० निज़ामुद्दीन, डॉ० संसार चन्द्र, डॉ० अयूब प्रेमी के लेख इकबाल की शख्सीयत, शायरी और ख्यालों को उभारने की दृष्टि से उपयोगी हैं। 'शीराज़ा' के **कहानी विशेषांक** (अंक ४३) में छह कहानियां हैं—श्रवण कुमार की

'अपने परिवार के लोग', रतनलाल शांत की 'मुक्ति', ओम गोस्वामी की 'बनवास', सुतीक्ष्ण कुमार शर्मा 'आनन्दम' की 'ववंडर', राजेन्द्र अवस्थी की 'बंगला नम्बर दस' और अलंकार की 'पतंग' हिन्दी कहानी के संदर्भ में चार लेख हैं। डॉ० इन्द्रनाथ मदान का 'हिन्दी कहानी पहचान और परख', डॉ० विनय का 'समकालीन कहानी का संरचना शिल्प', डॉ० नरेन्द्र मोहन का 'हिन्दी कहानी : स्वतन्त्रता के बाद', डॉ० विवेकीराय का 'कथाकार हिमांशु जोशी—आधुनिक कहानियों की भीड़ में प्रामाणिक कहानियां' आदि। इस-विशेषांक में दो परिचर्चाएं दी गयी हैं। पहली परिचर्चा है 'नयी हिन्दी कहानी के संदर्भ में' जिसमें भाग लिया है डॉ० ओमप्रकाश गुप्त, डॉ० अनिल गोयल, श्री अशोक जेरथ, श्री छत्रपाल, श्रीमती उषा व्यास ने। दूसरी परिचर्चा है 'आवश्यकता है कहानी का असली चेहरा तलाशने की' जिसमें भाग लिया है डॉ० हरदयाल, हिमांशु जोशी, विजय मोहन सिंह, से० रा० यात्री, वेदराही और गंगाप्रसाद विमल ने। दोनों परिचर्चाएं समकालीन कहानी को समझने की दृष्टि से उपयोगी हैं। **कविता विशेषांक** (अंक ४७) में समकालीन कविता की मुख्य प्रवृत्तियों और आन्दोलनों पर पांच लेख दिये गये हैं। ये हैं—'कविता की प्रासंगिकता' (जगदीश चतुर्वेदी), 'विचार कविता की प्रासंगिकता' (डॉ० हरदयाल), 'समकालीन कविता का अनुभव और रचना प्रक्रिया' (डॉ० नरेन्द्र मोहन), लम्बी 'कविता : समकालीन जीवन बोध की प्रदीर्घ परिणति' (डॉ० बलदेव वंशी) और 'नयी कविता की भाषिक संरचना' (राजकुमार)। 'आजकी हिन्दी कविता—दशा, दिशा और संभावना' नाम से एक परिचर्चा भी विशेषांक में दी गयी है जिसमें भाग लिया है डॉ० रमेशकुमार शर्मा, डॉ० शशिशेखर तोषखानी, डॉ० रतनलाल शांत, मोहन निराश और महाराज कृष्ण संतोषी ने। समकालीन कविता की प्रवृत्तियों और आन्दोलनों को समझने की दृष्टि से इस विशेषांक में अच्छी सामग्री संकलित की गयी है। **व्यंग्य विशेषांक** (६६) व्यंग्य रचनाओं—'एक आवारा रचना (रवीन्द्रनाथ त्यागी), 'अंगुली और घी' (प्रेम जनमेजय), 'पिपरमिंट' (गियोवन्नी गारेशी), 'अपने सम्मान पर' (इन्द्रनाथ मदान), 'जगह नहीं है भाई' (विवेकीराय), 'मेरी आत्म कथा' (लतीफ घोंघी), 'जुए से लाटरी तक' (जितेन्द्र शर्मा), 'शुमारीलाल का दुःखान्त' (छत्रपाल), व्यंग्य कविताओं—'असली विद्रोही' और 'टूटे सपनों का सपना' (भारतभूषण अग्रवाल), 'मिर्च के बीज' (डॉ० प्रभाकर माचवे), 'कहां नहीं हो आए हैं पुष्पदन्तजी !' (नागार्जुन), हंसिकाएं (डा० सरोजनी प्रीतम) 'लिस्ट' (मजहर अहमद खां), और रचनाओं में निहित व्यंग्य के विश्लेषण—'स्वातंत्र्योत्तर हास्य-व्यंग्य निबन्ध व्यापक फलक पर रंग-बिरंगी कूचियों का कौशल' (डॉ० ओमप्रकाश गुप्त), 'हिन्दी नाटक में व्यंग्य' (डॉ० सिद्धनाथ कुमार), 'मराठी साहित्य में व्यंग्य' (डॉ० श्रीरंग संगोराम) 'पंजाबी कविता में व्यंग्य' (डॉ० देवेन्द्रसिंह), 'व्यंग्य भाषा की विलक्षणताएं' (डॉ० बालेन्दुशेखर तिवारी), 'डोगरी साहित्य में व्यंग्य' (प्रो० सत्यपाल शर्मा) आदि के लिए याद रखा जाएगा। 'शीराजा' के ये विशेषांक हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता में कुछ नया और सार्थक जोड़ते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

हिन्दी में कई ऐसी साहित्यिक पत्रिकाएं हैं जो घोषित रूप से प्रतिबद्ध हैं। यह प्रतिबद्धता अक्सर राजनीतिक पार्टियों के दर्जे की होती है जिससे कि साहित्यिक प्रवृत्ति को समझने में दिक्कत पैदा होती है। इस ढंग की प्रतिबद्धता वाली पत्रिकाओं का मकसद रहता है—अपनी विचारधारा के आईने में साहित्य को देखना और वैसी अनुकूलता वाले साहित्य को प्रश्रय देना। इन पत्रिकाओं के लेखकों का एक बंधा-बंधाया 'ग्रुप' और 'सर्कल' होता है। दूसरे ढंग की पत्रिकाएं वे हैं जो किसी साहित्यिक आन्दोलन या साहित्यिक प्रवृत्ति को निरूपित करने के लिए

निकलती हैं। ऐसी पत्रिकाओं के साथ लेखकों के छोटे-बड़े गुट जुड़े रहते हैं। इन दोनों प्रकार की पत्रिकाओं से तटस्थ और पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टि और रवैये की उम्मीद नहीं की जा सकती। हिन्दी में बहुत थोड़ी ऐसी पत्रिकाएं हैं जो सही अर्थ में पूर्वाग्रहमुक्त मानी जा सकें। यह सही है कि सरकारी संस्थानों से निकलने वाली पत्रिकाओं पर कई तरह के दबाव और सेंसर होते हैं। कुछ प्रतिबन्धों को मानते हुए उन्हें काम करना होता है। उनमें प्रयोग करने की, किसी मुद्दे के लिए जोखिम उठाने की, नये विचारों के प्रवर्तन की वैसी क्षमता और शक्ति नहीं होती जैसी कि उन साहित्यिक पत्रिकाओं में जिनका संबंध प्रयोग से और नये विचारों से होता है। इसके बावजूद, प्रादेशिक सरकारी संस्थानों से निकलने वाली पत्रिकाएं उठा-पटक की राजनीति से अलग रह कर, साहित्यिक और सांस्कृतिक समस्याओं को समझने का प्रयास करती दिखेंगी—अपेक्षाकृत अधिक खुलेपन और तटस्थता से। 'मधुमती', 'साक्षात्कार', 'आजकल', 'हिमप्रस्थ', 'शिविरा' 'शीराज़ा' के कुछ अंकों को इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

'शीराज़ा' के लेखक परिवार में निरन्तर वृद्धि होती गयी है और उसके पाठकों का समुदाय दिनों दिन बढ़ता गया है। प्रदेश के हिन्दी लेखकों और पाठकों को नयी साहित्यिक प्रवृत्तियों और आन्दोलनों से परिचित कराने में जहां इस पत्रिका ने खास भूमिका अदा की है, वहीं प्रदेश की सृजनात्मक प्रतिभाओं को हिन्दी की मुख्य साहित्यिक धारा के साथ जोड़ने का सांस्कृतिक कार्य भी इसके द्वारा सम्पन्न हुआ है।

साहित्यिक क्षेत्रों में 'शीराज़ा' की पहचान बनी है और इसे गंभीरता से लिया गया है। साहित्यिक पत्रिकाओं की भीड़ में किसी पत्रिका का इस तरह पहचान बना लेना और एक गंभीर प्रयास के तौर पर लिया जाना छोटी बात नहीं है। यह इस बात का सूचक है कि साहित्यिक प्रश्न और समस्याएं इसके लिए हाशिये की चीज नहीं हैं। इन प्रश्नों और समस्याओं को समझने और इनसे जूझने की प्रवृत्ति, अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद, इस पत्रिका में मौजूद है।

□

कला

कश्मीर में चित्रकला—एक परिचय

□ अवतार कृष्ण राज़दान

प्राचीन-काल से भू-स्वर्ग कश्मीर अपनी अनन्य प्राकृतिक सुषमा के कारण देश-विदेश के चित्रकारों को प्रभावित करता रहा है जिसके परिणामस्वरूप यहां के चित्रकार हर समय अपनी चित्राकृतियों में प्राकृतिक दृश्यों को उतारने में लगे रहे हैं। इसके अतिरिक्त यहां की चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विभिन्न प्रकार के फूलों का रंग, कमल-कुसुम की शीतलता, राजमहलों की विलासिता, शैव-दर्शन के सिद्धान्तों का प्रभाव और सूफ़ियाना अंदाज़ मिलता है। कश्मीरी चित्रकला के यही प्रमुख आकर्षण रहे हैं और इन्हीं को आधार मानकर यहां आज भी चित्रकार इस कला को विकसित करने के लिए सराहनीय प्रयास कर रहे हैं।

कश्मीरी चित्रशैली की परंपरा प्राचीन है। दुर्भाग्य यह है कि आज कल हमारे पास इसका कोई भी प्रामाणिक प्राचीन उदाहरण सुरक्षित नहीं जिसके फलस्वरूप हममें से कई यह बात मानने के लिए तैयार नहीं कि इसकी कोई अपनी प्राचीन परंपरा रही है। इसका कारण है कि यहां समय-समय पर भयंकर आग लगी है जिससे ललित कलाओं के प्राचीन उदाहरण जलकर राख हो गये हैं। कई बार ऐसा भी हुआ है कि राजनैतिक अस्थिरता के कारण विदेशी आक्रांताओं ने इसके प्राचीन उदाहरणों को वितस्ता में गरक कर दिया। किन्तु इतना सब होने पर भी कश्मीरी चित्रकला की प्राचीन परंपरा को नकारा नहीं जा सकता। सत्य तो यही है कि यहां इसकी परंपरा भव्य एवं प्राचीन रही है और यही कारण है कि इस कला का वर्णन यहां की कई प्राचीन संस्कृत पुस्तकों में मिलता है—

१. नीलमत पुराण—धार्मिक एवं साहित्य-सम्मेलन स्थान चित्राकृतियों से सजाये जाने चाहिए।[1]

२. कुट्टनिमत काव्य—दामोदर गुप्त अपनी इस प्रसिद्ध काव्य कृति में लिखते हैं कि कश्मीरी लड़कियों को सोलह वर्ष की आयु में ही चित्रकला सीखनी पड़ती थी।[2]

---

१. नीलमत पुराण, भाग ५, श्लोक ६८८।

२. कुट्टनिमत काव्य, भाग, ५, पृ० ५६, ३०६।

३. कथा सरित सागर—कश्मीरी चित्रकला का वर्णन करते हुए सोमदेव अपनी इस कृति में लिखते हैं कि यहां के राजदरबारों में ऐसे चित्रकार हुआ करते थे जो प्राकृतिक दृश्यों को उतारने में सफल एवं सिद्धहस्त थे।[1]

४. राजतरंगिणी—कल्हण कृत राजतरंगिणी में वर्णित है कि भारत की तरह कश्मीर में भी ऐसे राजमहल हैं जिनकी दीवारें भव्य चित्राकृतियों से सजी हुई हैं।[2]

इन सभी तथ्यों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कश्मीरी चित्रकला की प्राचीन काल से ही भव्य एवं उज्ज्वल परंपरा रही है जिसका उदाहरण आज भी हमारे रस्मों-रिवाजों, विवाहोत्सवों, तथा अन्य बड़े दिनों पर किसी-न-किसी रूप में मिलता है। इनमें से हमारा सबसे पहला धार्मिक उत्सव मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष तृतीया को होता है जिसको कश्मीरी में 'गोर त्रै' कहते हैं। यह वही दिन है जब गुरुजी अपने यजमान की नयी बहू या उसके छोटे बच्चों को गहरे रंगों से अंकित देवी-देवताओं की चित्राकृतियां प्रदान करते हैं। इसी प्रकार का दूसरा धार्मिक महोत्सव आषाढ़ के शुक्ल पक्ष की सप्तमी है जिसको कश्मीरी में 'हार सतम' कहते हैं। इस दिन कश्मीरी पंडित घरानों में रंगदार मिट्टी से चढ़ते सूर्य की शक्ल बनाई जाती है। इसके अतिरिक्त विवाहोत्सव के पहले दिन, जिसको कश्मीरी में 'मेंहदी रात' कहते हैं, घर के प्रवेशद्वार के चारों ओर सफेदी की जाती है। तत्पश्चात् विभिन्न गहरे एवं शोख रंगों से इस पर फूल-पत्तियों का डिज़ाइन बनाया जाता है। कश्मीरी में इसको 'क्रूर-खारून' कहते हैं। इस प्रकार की चित्रकला की परंपरा यहां कब कायम हुई थी—निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। अलबत्ता इस कला से सम्बन्धित जिन बातों का उल्लेख यहां की संस्कृत पुस्तकों में मिलता है, उनका किसी-न-किसी रूप में इससे ज़रूर सम्बन्ध है।

सन् १९३५ ई० में येल केम्ब्रिज एक्सपेडिशन के मुखिया डॉ० टेरा की देख-रेख में बुर्जहामा के निकट उत्खनन के पश्चात् एक लम्बा-चपटा पत्थर प्राप्त हुआ है जिस पर एक दौड़ते हुए बारासिंघे का चित्र उत्कीर्णित है। इसके पीछे-पीछे एक शिकारी तीर और कमान लिये दिखाया गया है। यह कश्मीर में उपलब्ध पहली शिकार-तस्वीर है और 'प्रिमिटिव आर्ट' का पहला उदाहरण।[3] यह वही समय है जब कश्मीर में इन्सान बसने लगे और अपना पेट पालने के लिए पशु-पक्षियों का शिकार करने लगे थे। कश्मीरी चित्रकला का इसी तरह का एक और उदाहरण हारवन बौद्ध मठ में प्राप्त वे मृण-टिकड़ियां हैं जिनके सम्बन्ध में पुरातत्त्व वेत्ताओं का कहना है कि ये चौथी शती की बनी हैं। इनमें से पहली मृण-टिकड़ी पर एक नृत्यांगना का चित्र बना है जिसके आस-पास ढोलवादक ढोल पर थपकियां मारते हैं। दूसरी मृण-टिकड़ी पर एक शिकारी का चित्र बना है जिसके सामने कोई मरा हुआ पक्षी है। तीसरी अथवा अंतिम मृण-टिकड़ी पर एक युगल-दंपति का चित्र उत्कीर्णित है जो एक गेबुल पर बैठे प्राकृतिक-सौन्दर्य का आनन्द-रस लूटते हैं। इस समय ये मृण-टिकड़ियां श्रीनगर के प्रताप संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त यहां की कुछ गुफाओं से मृण-भांड़ के पुरावशेष प्राप्त हुए हैं जो अब टूट गये हैं। इन पर पुरुष-स्त्री के कुछ नंगे चित्रों का चित्रांकन है। इनमें से कई एक पर इन्हें एक-दूसरे

---

१. Introduction of Katha Sarit Sagar by Lions—The civilization of Ancient India—P. 157.

२. कश्मीरी ललित कलाएं, पृ० ८४.

३. चमन, अंक ५, (दिसम्बर १९७२ ई०), मोहम्मद यूसुफ टेंग का लेख—'कोशिर मुसवरी अरू पोत मंज़र'

का चुम्बन लेते भी दिखाया गया है। इनके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कथन है कि ये चित्र कोक-शास्त्र के कुछ सिद्धान्तों के आधार पर बने हुए हैं। इस समय ये श्रीनगर के प्रताप संग्रहालय में सुरक्षित हैं। कश्मीरी चित्रकला के ऐसे उदाहरणों को देखकर यह बात स्पष्ट होती है कि उस समय यहां चित्रकार अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए पत्थरों और मृण-टिकड़ियों का प्रयोग करते थे, ठीक उसी तरह जिस तरह आजकल के चित्रकार काग़ज़ पर चित्राकृतियों की रचना करते हैं।

कश्मीरी चित्रशैली पर यूनानी चित्रकला का प्रभाव पड़ा है अथवा नहीं—यह बात आज भी विवादास्पद है। इस पर शोध करने की गुंजाइश भी है और आवश्यकता भी। कुछ विद्वानों का कथन है कि यूनानियों का कश्मीर पर डेढ़ सौ वर्ष तक एकाधिकार रहा है। इनका यह भी कहना है कि सम्राट सिकन्दर की विश्व-विजय में कश्मीर भी शामिल है। यूनानी-इतिहास में भी इस बात का स्पष्ट संकेत है। हाल ही में यहां कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं। जिन पर इनका सन् यूनानी में लिखने के साथ-साथ कुछ आकर्षक चित्राकृतियां भी बनी हैं। इसी को आधार मानकर कुछ विद्वान कश्मीर पर यूनानियों के एकाधिकार का दावा करते हैं। यदि यह सत्य है तो यह भी नकारा नहीं जा सकेगा कि हुस्न परस्त यूनानियों ने कश्मीरी चित्रकला का विकास नहीं किया है।[१] इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कनिंघम और फरगोसन अपनी कई पुस्तकों में लिखते हैं कि यूनानियों के राज्यकाल में यहां चित्रकला खूब पनपी थी। इनका कहना है कि यही वह समय था जब कश्मीरी चित्रकार पूर्वी भारत के कई क्षेत्रों में अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए गये थे। वहां ये पश्चिमी पंजाब और काबुल के चित्रकारों से मिले और अपनी कला का एक-साथ प्रदर्शन किया।

कई विद्वानों का कहना है कि कश्मीरी चित्रकला को विकसित करने में विश्व-विख्यात चित्रकार शाह आफ़ाक मानी का उल्लेखनीय योगदान रहा है। वे एक चोटी के चित्रकार कहे जाते हैं। विद्वानों का कहना है कि ये यहां महाराजा राणादित्य के शासन काल में आये। अपने आवास के बीच इन्होंने यहां कई नयनरम्य चित्रों की रचना की जिनको लोग 'अचरंग' नाम से जानने लगे।[२] इन चित्राकृतियों में इन्होंने अपनी कला का खूब प्रदर्शन किया था। कहा जाता है कि एक दिन जब इन्होंने इनको देखा तो वे पागल हो गये और पागलपन में वे सबों को कहने लगे कि मैं भगवान का दूसरा रूप हूं। लोग जब उनसे इसका प्रमाण पूछने लगे तो उत्तर में इन्होंने उनको अपनी बनायी हुई चित्राकृतियां दिखायीं। इस प्रकार इन चित्राकृतियों को दिखाने का उनका उद्देश्य लोगों को यह बताना था कि ये चित्ररत्न उनकी कला का कमाल नहीं हैं बल्कि आकाश से कोई फरिश्ता ज़मीन पर उतरकर इनकी रचना करता है।[३] किन्तु यहां प्रश्न उठता है कि यदि मानी ने कश्मीर में प्रवेश किया और अपनी कला-प्रदर्शन से यहां की चित्रशैली का खूब विकास किया तो कल्हण ने राजतरंगिणी में इनके सम्बन्ध में चुप्पी क्यों साध ली है? इनके सम्बन्ध में एक और तथ्य अंधकार में विलीन है। वह यह कि इनका यहां कब आना हुआ है और यहां आकर ये कब तक रहे हैं। आज तक इन बातों के सम्बन्ध में किसी भी विद्वान ने कुछ नहीं कहा है अलबत्ता ईरानी-इतिहास में वर्णित है कि शाह मानी अपनी कला के कमाल तक उस

---

१. Five Thousand Years of Indian Art by Goetz P. 869.
२. Kashier by Dr M. D. Sufi, P. 555।
३. आईने-अकबरी—अब्बुल फजल, अंग्रेज़ी अनुवाद जेरिया।

समय पहुंच गये थे जब ईरान में शाहपोर प्रथम का शासन-काल था।[1] खैर, यह तो एक ऐसा विषय है जो विस्तृत शोध की अपेक्षा रखता है।

ईसा से ३०० वर्ष पूर्व यहां बौद्ध चित्रकला का अभूतपूर्व विकास हुआ। इसका उलेलख प्रसिद्ध इतिहासज्ञ तारनाथ ने सन् १६०८ ई० में अपनी एक पुस्तक में किया है।[2] इनका कहना है कि बौद्ध-चित्रकला का आधार वस्तुतः तीन शैलियों पर निर्भर करता है—नाग, यक्ष और देव। इनमें से यहां नाग शैली की चित्रकला खूब प्रचलित रही है। इसका विकास प्रसिद्ध बौद्ध-दार्शनिक नागार्जुन के समय हुआ है। इसके अतिरिक्त उस समय यहां के चित्रकारों ने ऐसी चित्राकृतियों की रचना की जो बौद्ध-धर्म के कुछ सिद्धान्तों और जातक-कहानियों पर आधारित थीं। इस प्रकार की कई चित्राकृतियों के उदाहरण चीन की कुछ गुफ़ाओं से प्राप्त हुए हैं[3] इनमें महायान बौद्ध-धर्म के कुछ उसूलों की व्याख्या की गयी है। ये इसलिए भी महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं क्योंकि इनके मुखपृष्ठ के चारों ओर नयनरम्य चित्रों की रचना की गयी है। इनमें से एक चित्र के नीचे लिखा है कि ये एक कुशल चित्रकार द्वारा बनाये गये हैं। छठी शती में यहां बौद्ध-चित्रकला का इतना विकास हुआ था कि उस समय चित्रकार नेपाल, बर्मा और दक्षिणी भारत के कुछ क्षेत्रों में जाकर अपनी कला का कमाल दिखाने लगे। यही कारण है कि उस समय इन सारे क्षेत्रों में चित्रकला के स्थानीय स्कूल कायम होने लगे जिनकी बुनियाद चित्रकला की बौद्ध-शैली थी। उस समय यहां दक्षिण भारत के कई चित्रकारों का आना-जाना रहा जिन्होंने यहां बौद्ध शैली के आधार पर कई नयनाभिराम चित्रों की रचना की। इनमें से जो पहला चित्रकार यहां आया, उनका नाम बिम्बसार था। कहते हैं कि इनके चित्ररत्नों की प्रदर्शनी यहां बौद्ध-पूर्णिमा के दिन लगती थी। ये देव शैली के चित्र बनाने में सिद्धहस्त थे। इनके बाद यहां श्रारंग-देव नामक एक और चित्रकार आये। ये मारवाड़ के रहने वाले थे। इन्होंने यहां कई हज़ार चित्रों की रचना की जिनका आधार यक्ष शैली थी। कहने का तात्पर्य है कि उस समय कश्मीर और इन क्षेत्रों के बीच न केवल व्यापारिक सम्बन्ध रहे थे बल्कि ये पारस्परिक सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण भी एक-दूसरे के निकट थे।

छठी शती से आठवीं शती तक के अन्तराल में यहां चित्रकला की एक और शैली का आविर्भाव होने लगता है। इसका नाम गुप्तशैली है। यह वही समय है जब महाराजा ललितादित्य कोणकन और बंगाल (गौढ़) पर अपना एकाधिकार स्थापित करते हैं और इसी बीच ये बाहर के कई कलाकारों को अपने साथ यहां लाते हैं जिनमें चित्रकार भी होते हैं। उस समय ये यहां के चित्रकारों के साथ काम करते हैं और इस तरह चित्रकला की एक और शैली का जन्म होता है। कुछ समय के बाद यह शैली यहां इतनी लोकप्रिय हो जाती है कि इसको सीखने के लिए

---

१. तारीखे तमद्दुन ईरान सासानी, सैयद नफ़ीसी, भाग १, पृ० ६२।

२. A History of Buddhism Tr.by W. T. Heely in Indian Antiquity Vol IV, p. १०१।

३. सन् १६३१ ई० में लीकाक और स्टाइन को चीन की एक गुफा से एक दस्तावेज-संग्रह प्राप्त हुआ था। इसका रचना-काल ५वीं शती था। इन दस्तावेजों के अन्दर और हाशिए पर कुछ उत्कृष्ट चित्र बने हुए थे। इनमें कश्मीर के प्राकृतिक दृश्यों का अंकन भी हुआ था। दस्तावेज संग्रह के एक तरफ़ इस तरह लिखा हुआ था—'सचिह्ना चित्र कारन्ह'। आजकल यह दस्तावेज-संग्रह कहीं भी उपलब्ध नहीं।

चम्बा, कांगड़ा, कुल्लू, लाहौल स्पिती और पश्चिमी तिब्बत के कुछ चित्रकार यहां आते हैं और अंत में इसका विकास अपने क्षेत्रों में करते हैं।[१] इस समय चित्रकला के ये उदाहरण नष्टप्राय मंदिरों की कुछ दीवारों के अतिरिक्त पंजाब में अम्ब और मलोट में प्राप्त मंदिरों की दीवारों पर भी मिलते हैं। यही वह समय है जब यहां की चित्रकला पर कश्मीरी शैव-दर्शन का प्रभाव पड़ता है। चित्रकार शिव, शक्ति अणु या नर पर कई प्रकार के नयनरम्य चित्रों का चित्रालंकरण करते हैं। इनमें ऐसी तस्वीरें भी शामिल हैं जिनमें चित्रकार महादेव एवं पार्वती को कई रूपों में दिखाते हैं। कहते हैं कि ऐसी तस्वीरें मंदिरों की दीवारों पर भी बनायी जाती थीं किन्तु दुर्भाग्य से आजकल हमारे पास इस प्रकार का कोई उदाहरण सुरक्षित नहीं। नवीं शती में कश्मीर, नेपाल और तिब्बत के चित्रकार एक साथ अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। इस तरह यहां चित्रकला की एक और शैली का आविर्भाव होने लगता है जिसको बाद में पाला शैली कहता गया। यहां यह शैली आठवीं शती से बारहवीं शती तक प्रचलित रही है और इस पर आधारित उदाहरण पूर्वी तरमबसीन, मिगओए और कूचा में प्राप्त हुए हैं।[२] इसके अतिरिक्त पश्चिमी तिब्बत में मानन, सायरप्रंग और रेड-टेम्पुल की दीवारों पर भी पाला चित्रशैली पर आधारित चित्र प्राप्त हुए हैं।

कश्मीर में कब से सफ़ेद कपड़े पर चित्राकृतियां बनाने का प्रचलन रहा है—इस सम्बन्ध में कहीं भी कोई ठोस जानकारी प्राप्त नहीं होती। अलबत्ता राजतरंगिणी में वर्णित है कि महाराजा हर्ष के महल में कुछ ऐसे चित्रकार मौजूद थे जो सफ़ेद कपड़े पर चित्र बनाने में सिद्धहस्त थे। कहते हैं कि इन्हीं के शाही दरबार में कपड़े पर बनी सुनहरे रंग में अंकित कई चित्राकृतियां सुरक्षित थीं किन्तु ज्यों ही उच्चल आक्रांताओं ने महाराजा हर्ष का वध करके उनका दरबार लूटा तो वहां इनको ये चित्राकृतियां भी मिलीं। ये चित्राकृतियां इतनी ठोस एवं वास्तविक लगती थीं कि उन्होंने इनको सोना जानकर जला दिया। किन्तु अंत में उन्हें राख के सिवाय कुछ नहीं मिला।[३] इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महाराजा हर्ष के राजत्वकाल में यहां सफ़ेद कपड़े पर चित्र बनाने की प्रथा कायम थी जिसका आविर्भाव इनसे पहले यहां हो गया था।

कश्मीर में इस्लाम आने के कुछ समय बाद तक चित्रकला का विकास नहीं हो पाया क्योंकि मुसलमान राजाओं ने कुछ धार्मिक बन्धनों के कारण यहां की ललितकलाओं पर प्रतिबंध लगाया। जो कुछ भी यहां इसका पुराना बच पाया था, उसको एक दम नष्ट कर दिया गया। चित्रकारों को हतोत्साहित कर दिया गया। इनमें से अधिकांश भाग कर कुल्लू एवं कांगड़ा चले गये। किन्तु इसके लगभग एक सौ साल बाद जिस मुसलमान राजा ने यहां की चित्रकला की उज्ज्वल परम्परा को जीवित रखने में अपना सराहनीय योगदान प्रदान किया, वे थे सुल्तान जैन-उल-आब्दीन 'बडशाह'। ये स्वयं कश्मीरी ललितकलाओं में रुचि लेते थे। इनके शाही दरबार में अन्य चित्रकारों के अतिरिक्त मुल्ला जमील नामक एक कुशल चित्रकार हर समय मौजूद रहते थे जिहोंने कई सौ चित्राकृतियों की रचना की थी।[४] कहते हैं कि बडशाह ने इनको अपने निजी

---

१. Vogal—Antiquities of Chamba State, Part I, p. 216-20
२. Five Thousand Years of Indian Art by Goetz. p 143.
३. राजतरंगिणी, तरंग ७, श्लोक १५७५।
४. तारीख बडशाही, पृ० ४६६।

पुस्तकालय में सुरक्षित रखा था। एक सौ वर्ष तक सुरक्षित रहने के बाद इन चित्रों को पुस्तकालय सहित जलाया गया।[1] सुलतानों के बाद चकों के शासनकाल में भी यहां चित्रकला का खूब विकास हुआ। यहां के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० मही उद्दीन सूफी के मतानुसार सन् १९२४ ई० में जब यहां बर्तानिया के आर्ट नमूनों का प्रदर्शन किया गया, उनमें ऐसी तस्वीरें भी रखी गयी थीं जिन पर प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण था। यद्यपि ये इन सभी तस्वीरों की जानकारी नहीं दे सके हैं तथापि इनका कहना है कि ये कश्मीरी चित्रकारों की चित्राकृतियां हो सकती हैं। अपनी पुस्तक 'कशीर' में एक और स्थान पर ये लिखते हैं कि लंदन के विक्टोरिया-अलबर्ट संग्रहालयों में कपड़े पर बनी चौबीस चित्राकृतियां अलबम की सूरत में सुरक्षित हैं। इन सभी में प्राकृतिक दृश्यों का अंकन मिलता है। इनके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि ये कश्मीरी चित्रकारों की चित्राकृतियां हैं और इनका रचना-काल सोलहवीं शती है। यह वही समय है जब कश्मीर पर मिर्जा हैदर दुगलत का शासन-काल था। इससे स्पष्ट है कि चकों के राजत्वकाल में यहां की चित्रकला का खूब विकास हो गया था।

मुगलों के राजत्वकाल में भी कश्मीरी चित्रकला एक नई दिशा की ओर अग्रसर हुई। मुगल राजा स्वयं कश्मीर की प्राकृतिक सुषमा पर आसक्त थे और यही कारण है कि इन्होंने कश्मीरी चित्रकारों को खूब प्रोत्साहित किया। सम्राट अकबर जब पहली बार कश्मीर आये तो इन्होंने अपने साथ वास्तुकार और चित्रकार इस उद्देश्य से लाये कि वे यहां के चित्रकारों को कुछ सिखायें किन्तु जब इन्होंने यहां के चित्रकारों का चित्र-प्रदर्शन देखा तो वे चकित होकर रह गये। इसके बाद इन्होंने यहां के पांच चित्रकारों को अपने शाही दरबार में बुलाकर प्रतिनिधित्व प्रदान किया। वहां इनके साथ पंजाब और गुजरात के पांच-पांच चित्रकार भी मिले।[2] शाही दरबार में इन्होंने स्थानीय शैली के आधार पर कुछ नयनाभिराम चित्र बनाये। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह वही समय है जब कश्मीरी चित्रकारों ने आगरा के चित्रकारों से दृश्य-चित्र बनाने सीखे। सम्भवतः यह चित्रकला की वही शैली है जिसको बाद में 'कश्मीरी-स्कूल' कहा जाने लगा। कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि कश्मीरी चित्रकला का यह स्कूल वस्तुतः चित्रकला के राजपूत स्कूल से प्रभावित रहा है किन्तु इस पर कइयों का मतभेद है। उनका कहना है कि कश्मीरी चित्रकला राजपूत स्कूल से उस समय प्रभावित रही है जब यहां ललितादित्य का राजत्व काल था।

मुगलों के राजत्वकाल में कश्मीरी चित्रकला को 'शुर-कलम' से जानी जाने लगी। उस समय पहले सफेद कपड़े पर चित्र का रेखांकन किया जाता था। बाद में इस पर गहरे रंग भर दिये जाते। इस शैली को उस समय 'अबीना' कहते थे। इसके बारे में पर्सी ब्राऊन लिखते हैं— 'कश्मीरी चित्रकार अपनी चित्राकृतियों में हल्के एवं नयनरम्य शेड लाने के लिए पहले पानी को एक ही सतह पर रखते थे। पानी शुष्क होने से इसके स्थान पर बारीक दाने पैदा हो जाते थे। यह सब चित्र को असली सूरत में लाने के लिए किया जाता था। इससे वह तस्वीर सुन्दर लगती थी।'

जहांगीर के शासन-काल में भी कश्मीरी चित्रकला का अभूतपूर्व विकास हुआ। 'तुज़कि-

---

१. कोशरि अदबच तवारीख, पृ० २२१।

२. Akbar celebrated a group of court painters including fine painters of Gujrat, punjab and Kashmir each. 'Indian Painting by K. Bartha Ayer, p. 75.

जहांगीरी' में वर्णित है कि जहांगीर के राजत्वकाल में यहां एक कला-दीर्घा मौजूद थी। कश्मीर के इतिहास में यह पहला राजा हुआ है जिसने यहां कला-दीर्घा बनायी है। यहां कला-दीर्घा कहां बनी थी—इस सम्बन्ध में आज तक कोई जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। इसमें कश्मीरी चित्रकारों के कई चित्रावशेष मौजूद थे। इनके सम्बन्ध में जहांगीर अपनी 'तुज़कि' में लिखते हैं—'इसमें देश के कई चित्रकारों की रचनाएं थीं। मेरे वंश के कई बुजुर्गों की तस्वीरें भी थीं। इसके अतिरिक्त मिर्ज़ा कामरान, मिर्ज़ा मोहम्मद हकीम तथा सुलतान दान्याल की तस्वीरें मानो रंगारंग फूलों के तीन गुलदस्ते थे।' सन् १६१६ ई० के मध्य में दिल्ली में जो चित्र-प्रदर्शनी लगी थी उसमें वे तस्वीरें रखी गयी थीं जो धार्मिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित थीं। इनके सम्बन्ध में इनके स्वामी अपनी राय देते हुए कहते हैं—'ये तस्वीरें जहांगीर के राजत्वकाल में कश्मीर में बनाई गई हैं। इनका आधार रामायण या राम-कथा है। किसी कारणवश इनके नीचे लिखी गयी पर्ची नष्ट हो गयी है किन्तु मूल चित्र अब भी हमारे पास सुरक्षित हैं। कहते हैं कि ये तस्वीरें राजा के निजी पुस्तकालय में बहुत समय तक सुरक्षित थीं किन्तु सन् १८५७ ई० के गदर के बाद इनको एक सिपाही ने कहीं से प्राप्त किया। बाद में मैंने इनको खरीद लिया। ये तस्वीरें नयनरम्य होने के साथ-साथ ऐतिहासिक महत्त्व भी रखती हैं।'[1] इस बात की सम्भावना हो सकती है कि उस समय ये तस्वीरें मास्टर मंसूर ने बनायी हों जो जहांगीर के शाही दरबार में एक लोकप्रिय चित्रकार थे।[2] कहते हैं कि इन्होंने अपनी कई चित्रा-कृतियों में कश्मीर के प्राकृतिक दृश्य उतारे थे जिन्हें इन्होंने एक अलबम के रूप में राजा को प्रदान किया था। राजा यह अलबम हर समय अपने पास रखता था और जब कभी उनको कश्मीर की याद आती थी, उस समय वह इसी अलबम के पृष्ठ खोलकर संतुष्टि प्राप्त करता था। यही वह समय रहा है जब यहां पुस्तकों, पोथियों और जातक के हाशिये पर चित्र बनाने का समारंभ हुआ; क्योंकि इससे इनकी सुन्दरता में चार चांद लग जाते थे। इस समय भी यहां के अनुसंधान विभाग के पेंटिंग कलेक्शन कक्ष में ऐसी पच्चास से अधिक पुस्तक-पोथियां सुरक्षित हैं। इनमें से एक पोथी पर पंद्रह चित्र बने हुए हैं। इसके अतिरिक्त श्री प्रताप संग्रहालय में गीता और कुरान शरीफ के पुराने नुस्खे भी मौजूद हैं। इनका लेखन-काल १३वीं शती हिजरी या १९वीं शताब्दी माना जाता है। इनके मुखपृष्ठ पर फूल-पत्तियों के नयनरम्य डिज़ाइन बनाये गए हैं। इनके सम्बन्ध में विद्वानों का कहना है कि ये मुगलकालीन चित्रकला के चित्रावशेष हैं जो आज भी सुरक्षित हैं।

मुगलों के बाद यहां पठान एवं सिख अपना एकाधिकार स्थापित करते हैं। राजनैतिक अस्थिरता के कारण इन दोनों की शासनावधि में यहां चित्रकला के प्राचीन चित्रावशेष नष्ट हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप यहां के चित्रकार हतोत्साहित होकर बाहर चले जाते हैं। इन परिस्थितियों में यहां की चित्रकला को विकसित करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। अलबत्ता ज्यों ही यहां डोगरा शासक अपना एकाधिकार स्थापित करते हैं तो चित्रकला के विकास का एक नया अध्याय शुरू हो जाता है। इनके शासन काल में यहां की चित्रकारी पर चित्रकला के कई स्कूल अपना प्रभाव डालते हैं जिनमें कांगड़ा और बसोहली शैलियां उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के कई उदाहरण इस समय रिसर्च पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। ये तस्वीरें प्रायः

---

१. 'कश्मीरी-चित्रकला : लेख भगवान प्रसाद, धर्म-मार्ग, फरवरी १९६९।
2. Kasheir by Dr. G. M. D. Sufi, 555.

प्राकृतिक सौन्दर्य एवं ऐतिहासिक दलीलों पर ही आधारित हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कश्मीरी चित्रकला को पनपाने की दिशा में जो सराहनीय काम किया गया, इतिहास में उसका उदाहरण मिलना कठिन है। सन् '४७ ई० के बाद जो कल्चरल फ्रंट यहां कायम हुआ, उसमें उस समय के साहित्यकारों, संगीत-शास्त्रियों एवं अन्य कलाकारों के अतिरिक्त यहां के सुप्रसिद्ध चित्रकार भी शामिल हुए। चूंकि उस समय इस साहित्यिक संस्थान की स्थापना का एक मात्र उद्देश्य यहां के लोगों में राजनीतिक जागरूकता लाने के अतिरिक्त उस नृशंस अत्याचार से उन्हें परिचित कराना था जो कबाइलियों ने यहां किया था। उस साहित्यिक-संस्थान के पुण्य उद्देश्य को पूरा करने के लिए यहां के चित्रकारों ने ऐसी चित्राकृतियों की रचना की जिनकी पृष्ठभूमि कबाइली लोगों के नृशंस अत्याचार से सम्बन्धित थी। ऐसी चित्राकृतियां समय-समय पर 'प्रताप' पत्रिका में प्रकाशित होती रहीं। जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी की स्थापना होने पर कश्मीरी चित्रकला में नित नये प्रयोग देखने को मिलते हैं। इस दिशा में अकादमी के योगदान को रेखांकित करने के लिए एक स्वतंत्र लेख की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता। प्रस्तुत लेख की सीमाओं में यह सम्भव नहीं है।

□

संस्कृति

लद्दाख में रिंग-सेल का महत्त्व

□ प्रेम सिंह जीना

लद्दाख में बौद्ध लोग पवित्र अस्थियों को जिसे लद्दाखी भाषा में रिंग-सेल कहते हैं, बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यहां प्रत्येक बौद्ध पवित्र अस्थियों की पूजा-अर्चना कर अपने को स्वर्ग समान सुख का ही नहीं परन्तु निर्वाण-सुख का भागी भी मानता है।

बौद्ध धर्म के अनुसार चार प्रकार के व्यक्तियों की अस्थियां पवित्र मानी जाती हैं।[1]

१. तथागत बुद्ध भगवान

२. प्रत्येक बुद्ध

३. अर्हत्।

४. चक्रवर्ती राजा।

इन चार व्यक्तियों की अस्थियों के पवित्र होने और उनकी पूजा-अर्चना करने की भावना उस समय उत्पन्न हुई, जब भगवान तथागत बुद्ध ने कुशीनगर के परिनिर्वाण मंच पर लेटे हुए आयुष्मान् आनन्द के प्रश्नों का उत्तर देते हुए, स्तूपार्ह व्यक्तियों के सम्मुख इसकी व्याख्या की थी। यही नहीं उन्होंने स्वयं अपने कर-कमलों द्वारा अर्हत् सारिपुत्र तथा अर्हत् मौद्गल्यायन आदि जैसे महास्थविरों की पवित्र अस्थियों का स्तूपों में निधान किया था। यद्यपि स्तूपों का निर्माण तथागत द्वारा स्तूपों में पवित्र अस्थियों के निधान से पूर्व भी किया जाता था, और तथागत ने केवल चार पहले बताये व्यक्तियों की अस्थियों पर स्तूप-निर्माण की आज्ञा दी थी, परन्तु समय और काल के अनुसार बाद में सभी भिक्षुओं और सद्गृहस्थों की भी अस्थियों पर स्तूपों का निर्माण होने लगा।[2]

लद्दाख में रिंग-सेल का अर्थ ऐसी पवित्र अस्थियों से लिया जाता है, जिसमें से रत्नांश स्वतः निकालता हो। यहां रिंग-सेल अधिकतर कपाल एवं हृदय के पास से निकाली गयी अस्थियों के रत्नांश से निकालना प्रचलन में है।[3]

---

१. धर्मरक्षित, भिक्षु: 'बौद्ध धर्म-दर्शन तथा साहित्य' पृ० ३९।

२. वही, पृष्ठ ३९।

३. छेरिंग सोनम, 'रिगपे दुदचि', पृ० ५।

लद्दाख में प्राचीन काल में ही सभी मृत सद्गृहस्थों की अस्थियों पर स्तूपों के निर्माण का प्रचलन लामाओं एवं चक्रवर्ती राजाओं की अस्थियों पर किये गये स्तूपों के निर्माण के समानान्तर ही चला आ रहा है। इस प्रकार लद्दाख में रिंग-सेल या पवित्र अस्थियों पर बने स्तूपों को मुख्यतः निम्न भागों में बांट सकते हैं—

१. सद्गृहस्थों पर बने स्तूप
२. लामाओं पर बने स्तूप
३. चक्रवर्ती राजाओं पर बने स्तूप।

लद्दाख में बौद्ध लोग मृत शरीर को जलाने के पश्चात् उसकी पवित्र अस्थियों को नदियों या अन्य स्थानों में विसर्जित नहीं करते, ऐसा करना वे इन अस्थियों का अनादर मानते हैं। इसके विपरीत अस्थियों के ऊपर स्तूप बनाकर अपनी श्रद्धांजलि देने को वे शुभ मानते हैं।

अस्थियों पर बने स्तूपों की पहचान मुख्य रूप से स्तूपों के पाद पर बने चित्रों के आधार पर की जा सकती है। उदाहरण के लिए सद्गृहस्थों की अस्थियों पर बने स्तूपों के पाद पर किसी भी प्रकार का चित्र अंकित नहीं होता। लामाओं की अस्थियों पर बने स्तूपों के पाद में उड़ते हुए पुरुष तथा पुष्प के चित्र अंकित रहते हैं। चक्रवर्ती राजाओं की अस्थियों पर बने स्तूपों के पाद में सिंह या ड्रेगोन के चित्र बने होते हैं।

लद्दाख में इस प्रकार अस्थियों का बहुत महत्त्व है। यह महत्त्व इन पवित्र अस्थियों पर बने स्तूपों के मार्ग में आ जाने पर बौद्धों का स्तूपों को सदा दाहिने हाथ करके चलने और उसके प्रति अपनी पूरी श्रद्धा रखने के कारण और भी अधिक हो जाता है। स्तूपों के दाहिने हाथ से न चलने या भूल करने पर वह व्यक्ति अशिक्षित तथा अविनीत समझा जाता है।

भगवान तथागत बुद्ध को जीवित और परिनिर्वाण को प्राप्त होने पर भी समान चित्र वाला माना गया है। जिसके कारण फल भी समान माना गया। जैसा कि निम्न पंक्ति से स्पष्ट है—

"तिट्ठन्ते निब्बुते चापि, समं चित्तं समं फलं"[1]

आज भी लद्दाख में तथागत की अस्थियों की पूजा करना महान कार्य या महाकल्याण का अनुभव माना जाता है। जब सन् १९६४ में बौद्ध भिक्षु कुशोक बकुला की अध्यक्षता में तथागत की अस्थियों का कलश लद्दाख लाया गया था, तो लद्दाखवासियों का हृदय इस प्रकार अपार श्रद्धा से उमड़ पड़ा, मानो उन्हें तथागत साक्षात् रूप में मिल गये हों। उस दिन सारा लद्दाख आह्लाद का अनुभव करने लगा था। सन् १९८३ में जब अप्रैल माह में तथागत की अस्थियां और उसमें स्तूप बनाकर विश्व कल्याण की भावना का उद्गम भारतीय तथा जापानी बौद्ध भिक्षुओं के माध्यम से हुआ तो यह लद्दाख के इतिहास में एक गौरवपूर्ण घटना के साथ उभरा। वर्तमान समय में विश्व तनाव को कम करने तथा १० अप्रैल १९८४ को लद्दाख के प्रत्येक धर्म, संस्कृति और इतिहास प्रेमी व्यक्ति ने प्रेम और भक्ति के साथ उन पवित्र तथागत की अस्थियों पर बनने वाले 'शान्ति स्तूप' का स्वागत किया तथा इसके बनाने के लिए श्रम-दान किया।

यदि सत्य रूप से देखा जाय तो तथागत की पवित्र अस्थियों या अन्य महापुरुषों का स्वागत उनके महान् त्याग, तपस्या आदि का स्वागत है। बौद्ध इसी हेतु पवित्र अस्थियों को

---

१. धर्मरक्षित, भिक्षु : बौद्ध धर्म-दर्शन तथा साहित्य, पृ० ४१।

सुरक्षित रखते हैं। बौद्ध लोग पवित्र अस्थियों का स्तूपों में निधान कर उनकी पूजा से अपने कल्याण की कामना करते हैं तथा सदा यह कहकर उनकी वन्दना भी करते हैं—

वन्दानि चेतियं सब्ब, सब्बठानेसु पतिट्ठितं ।
सारीरिक-धातु-महाबोधि बुद्धरूपं सकलं सदा ।।'

अर्थात् सब स्थानों में प्रतिष्ठित शारीरिक-धातु (अस्थि), बोधिवृक्ष और बुद्ध-प्रतिमा इन सब चैत्यों की मैं सदा वन्दना करता हूं।

लद्दाख में बौद्धों की इस भावना ने संसार के बहुत महत्त्वपूर्ण लुप्तप्राय इतिहास की रक्षा की है। लद्दाख में आज भी बौद्ध धर्म की महान् सेवा करने वाले आचार्यों, भिक्षुओं तथा राजाओं की अस्थियां स्तूपों में इसी भावना के फलस्वरूप सुरक्षित हैं, जो लद्दाखी बौद्ध संस्कृति और इतिहास की बार-बार याद दिलाती हैं।

□

साहित्य चिन्तन

सृजन-प्रक्रिया में विचारधारा की भूमिका

□ डॉ० हेतु भारद्वाज

मेरे लिए संवेदना रचना का मूल और जीवन-मूल्य उसका परिणाम होना चाहिए। संवेदना के जीवन-मूल्य में बदलने तक की रचनात्मक यात्रा रचनाकार के आन्तरिक जगत में चुपचाप चलने वाली यात्रा होती है। सृजन के इन क्षणों में रचनाकार नितान्त अकेला होता है और वह यही सोच रहा होता है कि जो कुछ उसके भीतर पक रहा है, उसे किसी प्रकार अभिव्यक्त कर दे। इन क्षणों में वह केवल रचना को देखता है किन्तु रचनात्मक क्षणों के इस आवेश में रचनाकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अन्तर्निहित होता है। रचनाकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अर्थात् उसका दृष्टिकोण, उसका जीवन अनुभव, उसके विश्वास, उसकी आस्थाएं वगैरह-वगैरह—रचना में संवेदना से जीवन मूल्य तक पहुंचने का कार्य जीवन की स्थितियों के प्रति रचनाकार की क्षणिक या सतही-प्रतिक्रिया न होकर उसकी परिपक्व अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। सृजन-प्रक्रिया का तथ्यपरक विश्लेषण करना तो शायद सम्भव नहीं है क्योंकि इसका सम्बन्ध रचनाकार के अन्तस में होने वाले चेतन कार्य-व्यापार से है जो अपने आप में बहुत सूक्ष्म होता है। अलेक्सेई ताल्सतॉय ने लिखा है कि 'सृजनक्रिया के रहस्यों को उसी सृजन क्रिया के साधनों—शब्दों—का प्रयोग करके उद्घाटित करने का प्रयास करना वैसा ही है जैसे 'मक्खन के चाकू से मक्खन को काटना'— (लेखन कला और रचना-कौशल, पृ० २११)।

जब मैं यह कहता हूं कि जीवन-मूल्य रचना का परिणाम होना चाहिए तो यह स्वीकार करता हूं कि रचना कर्म मेरे लिए एक प्रयोजनशील कर्म है तथा एक रचनाकार की हैसियत से मैं कुछ प्रयोजन तय कर लेता हूं। इन प्रयोजनों को मैं इस प्रकार रख सकता हूं—हर स्तर पर मनुष्य को मानवोचित जीवन प्राप्त हो अर्थात् मनुष्य उन सभी दुष्चक्रों से मुक्त हो जो उसकी स्वतंत्रता तथा सत्ता का अपहरण करते हैं; मनुष्य उस पूंजीवादी व्यवस्था के जाल से मुक्त हो जिसके मूल में ही आर्थिक उत्पीड़न और शोषण विद्यमान हैं, समाज से सामाजिक और आर्थिक गैर-बराबरी मिटे; आदमी खुद इतना सामर्थ्यवान बने कि वह अपने संगठित प्रयासों के द्वारा सभी प्रकार के शोषण और उत्पीड़न को समाप्त कर सके और अपने पिछड़ेपन को दूर कर नये समाज की रचना कर सके। इन प्रयोजनों को तय करने में निश्चय ही जनवादी

विचारधारा मेरी सहायता करती है। और अपने तईं मैं इस विचारधारा को स्वीकार कर लेता हूं।'

रचनाकार के रूप में मुझे तीन स्तरों पर संघर्ष करना पड़ता है—रचना के प्रतिपाद्य के लिए संघर्ष, प्रतिपाद्य को प्रभावी ढंग से व्यक्त करने वाले अभिव्यक्ति माध्यमों से सम्बन्धित संघर्ष तथा एक ऐसी जीवन-दृष्टि विकसित करने का संघर्ष जो मेरे रचनाकार को जीवन की वास्तविकताओं की व्याख्या आदमी को केन्द्र में रखकर करने की सामर्थ्य दे सके। निश्चय ही तीसरे स्तर का संघर्ष दृष्टि-विकास के लिए जनवादी विचारधारा का वरण करने से सम्बन्ध रखता है।

किन्तु विचारधारा एक बाहरी प्रत्यय है जिसे कोई रचनाकार या व्यक्ति अपने अध्ययन, अनुभव तथा जगत के प्रभावों से ग्रहण करता है। विचारधारा (जनवादी) रचनाकार को एक ऐसी जीवन-दृष्टि प्रदान करती है जिसके माध्यम से वह जीवन जगत के सम्बन्धों को समझता है तथा इन सम्बन्धों के बीच पनप रहे गलत-सही के बीच भेद करता है। यही विचार-धारा उसे स्पष्ट करती है कि कौन-सी वे शक्तियां हैं जो अनन्तकाल से आदमी का शोषण करती चली आ रही हैं तथा इन शक्तियों से उसे किस प्रकार निजात दिलायी जा सकती है। यहां एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि यह कर्म तो मानवतावादी विचारधारा भी करती है। निश्चय ही करती है किन्तु उसका खतरा यह है कि वह शोषक-शोषित दोनों को मानव के खाने में रखकर दोनों के प्रति सहानुभूति देकर यथास्थिति का पोषण कर जाती है। किन्तु जनवादी विचारधारा शोषक-शोषित के बीच का भेद स्पष्ट करती है तथा रचनाकार को शोषित की रचनात्मक पक्षधरता करने की प्रेरणा देती है।

लेकिन रचनाकार के रूप में मेरा पहला संघर्ष रचना के प्रतिपाद्य और उसकी सक्षम अभिव्यक्ति के साधनों के लिए है क्योंकि कोई रचना पाठक को तभी प्रभावित कर सकती है जब वर्ण्य विषय के प्रति रचनाकार का रागात्मक सम्बन्ध हो। जब यह रागात्मक सम्बन्ध अभिव्यक्ति के स्तर पर रचना बनता है तो उसी प्रक्रिया में कहीं विचारधारा भी आ जाती है। किन्तु कुछ लोग हैं कि जो कोरी विचारधारात्मक अभिव्यक्ति को ही रचनात्मक कर्म मानते हैं और यहीं मेरे समक्ष ये विकल्प उभरते हैं—(१) संवेदना सहित विचारधारा, (२) संवेदना रहित विचारधारा, (३) विचारधारा रहित संवेदना। इनमें मुझे पहला विकल्प ही स्वीकार है क्योंकि बिना संवेदना के कोरी विचारधारा के बल पर किसी कलात्मक रचना की कल्पना करना बेमानी है। जो लोग विचारधारा की अभिव्यक्ति के लिए रचना के कलात्मक मूल्यों का बलिदान करने को तत्पर रहते हैं वे रचना के बुनियादी स्वरूप का ही विरोध करते हैं क्योंकि रचनाकार जब तक अपनी विचारधारा को कलात्मक रूप प्रदान नहीं करता तब तक अपनी रचना का अपेक्षित प्रभाव जनता पर डालने की आशा नहीं रख सकता।

सारा विवाद ही इसलिए है कि कुछ लेखक रचना के कलात्मक मूल्यों को ही कला का अंतिम लक्ष्य मानते हैं तो कुछ लेखक विचारधारात्मक अभिव्यक्ति को। किन्तु जीवन-मूल्यों से रहित कोरी कलात्मकता भी कोई अर्थ नहीं रखती और न कलात्मकता के बिना कोई विचारधारा ही। इसलिए रचनाकार का प्रमुख कार्य रचना की कलात्मकता को गहराई से विचार के ठोस तथा ईमानदार धरातल पर लाना है। आरोपित कथ्य तथा आरोपित कलात्मकता दोनों ही रचना के लिए घातक हैं।

विचारधारा के प्रति अति आग्रह ने कथ्य और कलात्मकता के संतुलन को बिगाड़ा

है और यह असंतुलन हिन्दी कविता में सर्वाधिक मात्रा में दिखायी देता है क्योंकि कविता को कसदन बयान बनाने की कोशिश की जाती रही है। जब-जब कलात्मक मूल्यों को अलग कर कोरी विचारधारा को जबरदस्ती रचना बनाने की कोशिश की जाएगी, एक बनावटी रचना सामने आएगी क्योंकि विचारधारा का रचना बनने से पहले रचनाकार की संवेदना में बदलना जरूरी है क्योंकि 'भावानुकूल ज्ञान ही कला का विषय है। परन्तु जब हम कला का सच्चा दृष्टिकोण छोड़कर-किसी दूसरे क्षेत्र में चले जाते हैं तब हम धीरे धीरे प्रतिक्रिया का आह्वान करते हैं' (मुक्तिबोध रचनावली-खण्ड ५, पृ० २३)।

इस भावानुभूत ज्ञान के लिए जरूरी है कि जनवादी विचारधारा की स्वीकृति के साथ-साथ रचनाकार वास्तविक ज़िन्दगी के सवालों से जुड़े क्योंकि सारे विचारधारात्मक और कलात्मक उपक्रमों की सार्थकता ज़िन्दगी के सवालों के हल खोजने में है। रचनाकार की हैसियत से मैं चाहता हूं कि मुझे मेरी सांस्कृतिक विरासत का गहरा ज्ञान हो, वास्तविक ज़िन्दगी में मेरी जड़ें गहरी हों। इनके अभाव में कोई भी विचारधारा मेरी मदद नहीं कर सकती। स्वयंप्रकाश ने अपनी 'कहानी की शुरुआत' शीर्षक कहानी में बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है, 'तुम लोग अगर यही करते रहे कि पहले कोई सिद्धान्त चबाया, फिर सोचा, इसपर कहानी लिखूंगा, फिर कोई प्लाट ढूंढा, फिर उसे सिद्धान्त में फिट करने लगे तो नास कर दोगे सारे साहित्य का ! सही प्रक्रिया इससे उलट है। इसीलिए कहा जाता है कि ज़िन्दगी से सीखो।' (आस्मां कैसे कैसे—संग्रह, पृ० ८२)। जब स्वयंप्रकाश 'आस्मां कैसे कैसे' कहानी लिखते हैं तो ज़िन्दगी के बिलकुल करीब आ जाते हैं और विचारधारा उनकी अनुभूति का अंग बनकर एक विश्वसनीय कहानी को जन्म देती है किन्तु जब वे 'संक्रमण' कहानी लिखते हैं तो स्त्री-पुरुष (पति-पत्नी) सम्बन्धों की प्रगतिवादी व्याख्या करने लगते हैं और स्त्री के लिए समान अधिकारों की हिमायत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे इस कहानी को विचारधारा के बल पर खड़ा करने का प्रयास कर रहे हैं, परिणामस्वरूप वे एक बनावटी कहानी की रचना करते हैं।

इसलिए विचारधारा जब तक रचनाकार की अनुभूति का जरूरी अंग नहीं बनती तब तक प्रभावशाली और ईमानदार रचना का जन्म नहीं होगा।

विचारधारा स्वीकार के साथ-साथ एक और महत्त्वपूर्ण सवाल जुड़ा हुआ है—राजनीतिक प्रतिबंधन का। यदि मैं जनवादी विचारधारा को स्वीकार करता हूं तो इस विचारधारा से सम्बद्ध राजनीतिक दल मुझसे अपेक्षा करता है कि मैं उस दल से जुड़ूं और उसके कार्यक्रम का अनुमोदन कर उसे रचनात्मक सहयोग प्रदान करूं। किन्तु राजनीतिक दलों के अपने अन्तर्विरोध होते हैं। यदि ऐसा न होता तो इतने सारे वामपंथी दल भी न होते। फिर मैं अपने आपको कौन से वामपंथी राजनीतिक दल से प्रतिबंधित करूं ? स्पष्ट उत्तर है कि रचनाकार की हैसियत से मेरा किसी भी दल से प्रतिबंधन आवश्यक नहीं है क्योंकि किसी भी दल के निर्देश पर रचना कर्म सम्पन्न करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। पिछले दौर में हम यह देख भी चुके हैं कि राजनीतिक दलों से जुड़े लेखकों को किस प्रकार गलत और मानव-विरोधी निर्णयों का साझीदार बनना पड़ता है।

फिर भी यह विचारधारा मेरे लिए जरूरी है किन्तु तभी तक जब तक वह मेरी अनुभूति का अंग बनकर मेरी रचनात्मक ऊर्जा को उद्दीप्त करती हुई मेरी रचनाओं को व्यापक जीवन संदर्भों से जोड़ती है और जीवन-जगत की स्थितियों तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत को समझने में मेरी सहायता करती है। □

भारतीय जीवन में मूल्यों का बदलाव

□ डॉ० पुष्पपाल सिंह

समकालीन भारतीय साहित्य जिस आधुनिक जीवन-परिवेश को चित्रित करता है, उसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुरातन मूल्यों को अस्वीकार कर एक नयी मूल्यदृष्टि जीवन के सभी क्षेत्रों में स्थापित होती दिखायी देती है। आधुनिक समय में मूल्यों की यह संक्रमणकालीन स्थिति समस्त भारतीय साहित्य में रचनात्मक स्तर पर अभिव्यक्ति पाती है। सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन आने से मूल्यों में परिवर्तन होता रहता है। इसीलिए मूल्य 'शाश्वत नहीं, परिवर्तमान' होते हैं। सामाजिक-परिवर्तन किन्हीं आंदोलनों से परिचालित होते हैं। किन्हीं सुनिश्चित मूल्यों में आस्था ही एक जैसे विचारों के मनुष्यों को आंदोलनबद्ध कर सामाजिक परिवर्तन की भूमिका का निर्माण करती है। इसीलिए नये जीवन मूल्य पहले किसी एक ही व्यक्ति या समूह तक सीमित रहते हैं फिर उस विचारधारा का प्रसार होकर धीरे-धीरे वे मूल्य व्यापक और सर्वग्राही बनते हैं। ये सामाजिक आंदोलन और मूल्य परिवर्तन विदेशी संस्कृति के संपर्क द्वारा भी संभव होते हैं। नयी जीवन-स्थितियों में मनुष्य की रुचियां और आत्मीय सम्बन्ध भी परिवर्तित हो जाते हैं। संदर्भों और सम्बन्धों की यह बदलती स्थिति नये जीवन-मूल्यों की सृष्टि में सहायता करती है।

विज्ञान और तकनीक के प्रभाव तथा औद्योगीकरण का मूल्य-परिवर्तन पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। व्यापक औद्योगिकीकरण और तकनालॉजी का विकास हमारे ज्ञान और तर्क में वृद्धि करने के साथ-साथ हमें सर्वथा नवीन जीवन-स्थितियां प्रदान करता है। मूल्य अपने को इन नयी जीवन-स्थितियों के अनुरूप ढाल लेते हैं या कहें कि मनुष्य मूल्यों को जीवन-स्थितियों के अनुरूप बना लेता है। नये-नये उपकरणों, मशीन आदि, की ईजाद मनुष्य को अपने जीवन मूल्यों में पुनर्वीक्षण की आवश्यकता अनुभव करा देती है। बढ़ता हुआ औद्योगीकरण एक नयी नागरिक सभ्यता और महानगरीय जीवन-परिवेश को जन्म देता है। तकनीकी विकास द्वारा दी गई ये नवीन-स्थितियां मनुष्य को मूल्यों के पुनर्मानकीकरण के लिए बाध्य करती हैं। आज मनुष्य का परिवेश तकनीक के द्रुत विकास से दूषित हो गया है। तकनीकी-ज्ञान के इस अप्रत्याशित विस्फोट ने मनुष्य-मनुष्य के बीच, उनके आत्मीय सम्बन्धों के बीच शून्य का

अंतराल भर दिया है। विचारकों ने यांत्रिकी विकास के संकटों से मनुष्य को सचेत किया है। इससे पारिवारिक सम्बन्धों, रिश्तों में बड़ा भारी परिवर्तन घटित होता है। आत्मीय सम्बन्धों का आधार प्रेम समाप्त हो जाता है और हमारे ये सब प्रिय सम्बन्ध अर्थाश्रित हो जाते हैं। सम्बन्धों में त्याग के स्थान पर स्वार्थ प्रमुख होता चला जाता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मूल्य प्रमुख होकर व्यक्ति को परहित चिंता में नहीं, व्यक्तिगत सुख में प्रवृत्त करता है। इस प्रकार तकनीकी विकास अपने तरीके से हमारे जीवन-मूल्यों को परिवर्तित करता है।

तकनीकी ज्ञान जिन नये उपकरणों, मशीनों, रोग-उपचार-विधि, आदि को विकसित करता है, इससे भी जीवन-मूल्यों में परिवर्तन घटित होता है। उदाहरणार्थ गर्भ-निरोधक साधनों और मातृत्व को संभव बनाने वाले वीर्य और डिम्बाशय बैंकों ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता, जैविक-आवश्यकता, यौन-शुचिता आदि के पुरातन मानों को गंभीर चुनौती दे दी है। इन जीवन-स्थितियों में सौन्दर्य, सुख और आनन्द, सामाजिक न्याय आदि के मूल्य और धारणाएं परिवर्तित हो गई हैं।

तकनीकी विकास, ज्ञान-विज्ञान के आधुनिकतम उपकरणों और संचारसाधनों की सुविधाओं से आज विश्व भौगोलिक दृष्टि से बहुत छोटा हो गया है। विश्व के किसी भी कोने में घटी कोई घटना या ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि सभी को प्रभावित करती है। इसलिए मूल्यों का परिवर्तन भी प्रायः सर्वत्र एक-सा होता है, इसलिए भारतीय संदर्भ में जब हम मूल्य-परिवर्तन की बात करते हैं तब हम भारतीय समाज को विश्व से सर्वथा अलग-थलग नहीं मान सकते। फिर भी शिक्षा-दीक्षा, परंपरा, तकनीकी विकास, औद्योगिकीकरण की मात्रा, आदि पर ही समाज का आधुनिकीकरण और मूल्य परिवर्तन निर्भर रहता है। इसलिए अपनी परंपरा परिवेश और परिस्थितियों के अनुरूप ही प्रत्येक समाज के मूल्य विकसित होते हैं। आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप भारतवर्ष में भी मूल्य-दृष्टि परिवर्तित हुई है। इस परिवर्तित मूल्य दृष्टि का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। इस परिवर्तित मूल्य-दृष्टि को धार्मिक, सामाजिक और नैतिक मान्यताओं के क्षेत्र में ही विशेषतः परिलक्षित किया जा सकता है।

धार्मिक-क्षेत्र

इस सदी में धार्मिक-क्षेत्र के मूल्यों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन घटित हुए हैं। औद्योगिक क्रान्ति के समय से ही ईश्वरीय सत्ता से मनुष्य का विश्वास उठने लगा था। वैज्ञानिक युग की बौद्धिकतावादी दृष्टि ने अलौकिक तत्त्व (सुपर नेचुरल एलीमेंट) और ईश्वरीय अवतार के कार्यों को 'क्यों' और 'कैसे' की दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया था। डार्विन की विकासवादी सिद्धांत-दृष्टि ने अलौकिक सत्ता और शक्ति में विश्वास को और भी कम किया। वैज्ञानिक, औद्योगिक और तकनीकी विकास के परिणामस्वरूप ईश्वरीय सत्ता में विश्वास दिनोंदिन कम होता चला गया। नीत्शे आदि के 'ईश्वर मर गया है, हमने उसकी हत्या कर दी है' जैसे कथन इस विचार-दृष्टि से ही निष्पन्न हैं। इन्हीं विचार-सूत्रों को लेकर अस्तित्ववादी धारणाओं का विकास हुआ है और ज्यां पाल सार्त्र जैसे दार्शनिक साहित्यकारों ने ईश्वरीय सत्ता में विश्वास न रखकर मानवीय अस्तित्व की सार्थकता में विश्वास व्यक्त किया। ईश्वरीय सत्ता के नकार से मानवीय स्वतंत्रता, व्यक्तित्व की स्वतंत्र अस्मिता की रक्षा का प्रश्न प्रबल से प्रबलतर होता गया। सार्त्र, जां जेने, कामू, ब्रेख्त, जोसेफ़ हेलर आदि साहित्यकारों के पात्र जिस कर्मगत

स्वतंत्रता की स्थापना करते हैं, वह इसी विचार-सूत्र का परिणाम है कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का नियामक है।

इस विचार-सूत्र ने मनुष्य को अपने कर्म में अधिक स्वतंत्र कर दिया। इस जीवन के पश्चात् उस कर्म के लिए दण्ड या किसी अन्य प्रकार का भय हटने से मनुष्य स्वेच्छाचारी कर्मों में प्रवृत्त हुआ। किसी दूसरे लोक या जीवन को सुखकर बनाने की अपेक्षा मनुष्य इसी जीवन को भरपूर रूप से ('दिस वर्ल्डलीनेस') भोगने में जीवन की सार्थकता मानने लगा। इससे जीवन में भोगवादी दृष्टि और मूल्य प्रधान हो गये। प्रेम और यौन-व्यवहार में अत्यन्त स्वेच्छाचारी दृष्टि इस भोगवादी दृष्टि से ही निष्पन्न है। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र में ईश्वरीय सत्ता के नकार से मूल्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन घटित हुए। धार्मिक मान्यताओं से प्रेरित ये नवीन जीवन-मूल्य किसी देश-विशेष तक ही सीमित नहीं रहे, विश्व के समस्त देशों पर इनका व्यापक प्रभाव पड़ा और भारतीय मानस भी इनसे आंदोलित हुआ है।

भारतवर्ष में भी आधुनिक युग में ईश्वर से अधिक महत्त्व मनुष्य का, नारायण से अधिक प्रतिष्ठा नर को, भाग्य से अधिक महत्ता कर्म को प्राप्त हुई। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से हम, यूरोपीय विचार-दर्शनों से भी प्रभावित हुए किन्तु हमारे इतिहास और संस्कृति की धर्म-भावना की जड़ें इतनी गहरी थीं कि यहां ईश्वरी सत्ता का नकार महज़ 'फैशन' या नारे के रूप में ही आया, वह हमारी प्रवृत्ति, पूर्ण विश्वास या दृढ़-धारणा (कनविक्शन) का रूप ग्रहण न कर सका। फलतः अस्तित्ववाद का प्रभाव भी यहां बुद्धिजीवी वर्ग के एक नारे के रूप में ही साहित्य और कलाओं में अभिव्यक्त हुआ। वस्तुतः सामान्य भारतीय के लिए ईश्वरीय सच और न्याय कभी झूठे नहीं पड़े। बुद्धिजीवी और कम्यूनिस्ट भी अपने लेखन, सार्वजनिक मंच, और नारों में ईश्वर को उपेक्षित और तिरस्कृत करते रहे किन्तु व्यक्तिगत जीवन में अपनी संस्कारगत धार्मिकता से जुड़े रहे। किन्तु भारतीय संदर्भ में ईश्वरीय सत्ता के नकार से जो मूल्य विकसित हुए उन्होंने निश्चित रूप से व्यक्ति के महत्त्व को प्रस्थापित किया किन्तु ईश्वर को नकार कर नहीं, व्यक्तिगत उन्नति में भाग्य और ईश्वर को सहायक माना किन्तु कर्म को उपेक्षित करके नहीं, प्रभु की सृष्टि के समस्त जीवों को समान माना किन्तु ईश्वर को झुठला-कर नहीं। समस्त विश्व के समान हमारे यहां भी धर्म के प्रति वैज्ञानिक, तर्कयुक्त दृष्टिकोण विकासमान हुआ, अंधविश्वासों और पुरातन रूढ़ियों को समय की कसौटी पर खरा पाकर ही स्वीकार किया गया। किन्तु इस सबके साथ ही हमारा एक चरण धर्म के पुरातन-रूप की ओर ही बढ़ता रहा जिसका परिणाम हुआ 'आधुनिक भगवानों' की कतार में वृद्धि जिन्होंने सामान्य व्यक्ति से लेकर अति विशिष्ट व्यक्तियों तक से पूजा पाई। राजनीति के क्षेत्र में 'बाबाओं' का वर्चस्व किसी से छिपा हुआ नहीं है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि केवल संक्रमण-शील समाज में ही ऐसा नहीं होता है, ज्ञान-विज्ञान, तकनीक, आर्थिक, औद्योगिक उन्नति की दष्टि से अत्यन्त समुन्नत समाजों की धार्मिक-भावनाएं और मूल्य भी पुरातन विश्वासों और परंपराओं में जकड़े हुए हो सकते हैं। उदाहरण के लिए 'आधुनिक भगवानों और 'बाबाओं' का गुरुडम देश की अपेक्षा अमेरिका जैसे विदेश में अधिक फैला हुआ है। इस प्रकार भारतीय-संदर्भ में धार्मिक मूल्यों में उल्लेखनीय परिवर्तनों के साथ-साथ पारंपरिक मूल्यों की भी युगपत् स्थिति है।

सामाजिक-क्षेत्र

यदि यह कहा जाये कि सामाजिक-आर्थिक (सोशिओ इकॉनिमिक) कारण ही समस्त

मूल्यगत परिवर्तनों के मूल हैं, तो अत्युक्ति नहीं होगी। किसी भी समाज का परिदृश्य मुख्यत: आर्थिक कारणों से ही निर्धारित होता है। द्वितीय महायुद्धोत्तर समय में आर्थिक कारणों ने ही प्रत्येक देश के समाज का परिदृश्य बदल कर रख दिया है। अर्थ और अर्थ-व्यवस्था आज वह धुरी बन गई है जिसके द्वारा समाज के रीति-नीति, व्यवहार, सम्बन्ध—रिश्ते—नाते, सभी कुछ निर्धारित होते हैं। मनुष्य की दृष्टि अर्थोन्मुखी और अर्थ-केन्द्रित हो जाने का ही परिणाम है कि संयुक्त-परिवारों का विघटन होकर परिवार की छोटी-छोटी इकाइयां अस्तित्व में आईं। संयुक्त परिवार के विश्रृंखलित हो जाने का सीधा सम्बन्ध आत्मीय रिश्तों, सम्बन्धों पर पड़ा है। मां-बाप, भाई-बहन, चाचा-भतीजे, बुआ आदि के सम्बन्ध बेमन से ढोये जा रहे हैं। इन सब आत्मीय सम्बन्धों के बीच अर्थ का विषधर कुण्डली मारकर बैठ गया है। रोजी-रोटी की तलाश में घर से बाहर निकले दूर-दराज़ के नगरों में बसे व्यक्ति अब इन सम्बन्धों को जीते नहीं, ढोते हैं। कभी-कभी जब इन रिश्तों का प्रेम आवेगपूर्ण होकर उनके बीच पहुंचने के लिए बाध्य करता है तो जेब की सीमा उन तक पहुंचने में बाधा बन जाती है। इसलिए दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता आदि स्थानों पर बसा व्यक्ति कभी कुछ विशेष अवसरों और विशेष सम्बन्धों तक ही अपने को सीमित करता चला जाता है। नगरीय-महानगरीय सम्बन्धों का ऊपरी दिखावा उसे अपने आत्मीय सम्बन्धों की ऊष्मा को पाने के लिए प्रेरित भी करता है किन्तु आर्थिक विषमताएं बार-बार उसकी विवशता बनकर खड़ी होती हैं और धीरे-धीरे वह इन सम्बन्धों और सम्बन्धियों से ही कन्नी काटने लगता है। समाज की यह स्थिति व्यक्ति के आत्मीय से आत्मीय सम्बन्धों के प्रति रुक्षता या उपेक्षा भर देती है। इसी प्रकार मां-बाप भी एक फालतू वस्तु 'कमॉडिटी', बनकर रह गये हैं। किन्तु हाल के दस-पांच वर्षों में इस स्थिति में एक विशेष अन्तर आया है। पति-पत्नी दोनों के नौकरी-पेशा होने की प्रवृत्ति इधर बहुत बढ़ी है और शहर में विश्वसनीय नौकर का मिलना भी दूभर होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में छोटे संयुक्त परिवारों का, जिनमें केवल मां या बाप अथवा समझौते की दृष्टि से दोनों भी हों, का महत्त्व एक बार फिर अनुभव किया जाने लगा है। दूर-दराज़ की बुआ आदि भी ऐसी स्थिति में समादृत हो गई हैं और पति-परित्यक्ता अथवा विधवा बहन, आदि को भी आश्रय देना एक प्रीतिकर कर्म बन गया है। किन्तु इन सब सम्बन्धों को अपनाने में दृष्टि अर्थ-प्रधान होती है, आत्मीय सम्बन्धों की ऊष्मा इनमें प्राय: नहीं है। यह अर्थ-प्रधान दृष्टि पति-पत्नी के सम्बन्धों के बीच भी घर करती जा रही है। विवाह को जन्म-जन्मांतर का आत्मीय सम्बन्ध मानने के स्थान पर जीने का आर्थिक समझौता और सामाजिक सुरक्षा का साधन भर मानने की दृष्टि 'उच्च वर्गीय' समाज में अधिक पनपती जा रही है। समाज के बीच व्यक्ति-व्यक्ति का यह बदला हुआ सम्बन्ध और संदर्भ प्रेम, सद्भावना, त्याग, बलिदान आदि के मूल्यों को समाप्त कर रहा है। आज लगभग सभी सम्बन्ध अर्थाश्रित हो गए हैं।

शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ ग्राम का शिक्षित युवक नौकरी की तलाश में नगर अथवा महानगर में आया तो उसने अपनी ग्रामीण सभ्यता और संस्कृति के स्थान पर नगरीय या महानगरीय सभ्यता और संस्कृति से परिचय पाया। वह तेज़ी से उस नगरीय और महानगरीय संस्कार में ढलता चला गया। इससे आगे की प्रत्येक पीढ़ी अधिकाधिक नगरीय और महानगरीय संस्कारों में पगती चली गई किन्तु इसका यत्किंचित् सम्बन्ध गांव में बैठे वृद्ध मां-बाप से भी बना रहा है। जब ये मां-बाप कभी-कभार बेटे, पोतों के बीच आते हैं तो उन्हें झटका लगता है कि उनका खून हर पीढ़ी में किस तरह उनसे, उनके परिवेश और संस्कारों से

अलग होकर नये उपयोगितावादी, अर्थोन्मुख जीवन-मूल्यों में जी रहा है। यह महानगरीय संस्कृति आर्थिक समृद्धि के सोपानों का आयत करने के लिए असुविधाओं को सुविधा और पतन को भी उन्नति ही मान रही है। इसलिए महानगरीय सामाजिक जीवन में भोगवादी दृष्टि और मूल्यों का विकास हो चला। इससे जीवन में एक प्रकार की व्यस्तता, आपाधापी, हड़बोंग, आर्थिक उन्नति और समृद्धि के लिए सब कुछ जायज के भावों और विश्वासों ने घर कर लिया। गांधी जी का साधन की श्रेष्ठता का कथन केवल मंत्रोच्चार की-सी रस्म बनकर रह गया है।

इस अर्थ प्रधान जीवन-दृष्टि ने समाज में एक बहुत बड़ा परिवर्तन उपस्थित किया और वह है नारी को नौकरीपेशा के रूप में घर से बाहर, चौके-चूल्हे की चार-दीवारी से बाहर ला खड़ा करना। नारी को भी शिक्षा और उच्च शिक्षा में दीक्षित कर नौकरी के लिए प्रेरित किया गया। हमारे यहां शिक्षा अनिवार्य रूप से नौकरी से जुड़ गई है, चाहे वह लड़कों की शिक्षा है या लड़कियों की। इसलिए लड़कियों में उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त कर नौकरी करने की प्रवृत्ति ने उनमें एक ओर तो आर्थिक सुरक्षा और आत्म-निर्भरता की भावना भरी और दूसरी ओर उनमें व्यक्तित्व की स्वतंत्रता की भावना भर दी। व्यक्ति स्वातन्त्र्य के मूल्य ने नारी को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के समकक्ष अधिकारिणी होने का गौरव प्रदान किया। युग-युग से पुरुष प्रधान समाज के नारी और पुरुष के लिए निश्चित पृथक्-पृथक् मूल्यों और मानों को उसने खुलकर चुनौती दी। प्रेम आदि के अब तक पुरुष को ही प्राप्त एकाधिकारों पर नारी ने खुलकर प्रश्न चिह्न लगाए। घर से बाहर आकर पुरुष प्रधान समाज में उसे पुरुष से भी अधिक संघर्ष करना पड़ा है। नौकरीपेशा के रूप में उसे घर और बाहर अनेक प्रकार की समस्याओं से जूझना पड़ा है। दफ्तर, स्कूल अथवा अन्य किसी कार्य-स्थान के संघर्षों से थक-टूटकर जब वह घर में आती है तो उसे लड़की या बहू के दायित्व से घिर जाना होता है। सास दफ्तर से आये बेटे को तो चाय अथवा नाश्ता सप्रेम दे देती है किन्तु ऐसा ही करते हुए बहू की 'सेविका' बनना उसे पसन्द नहीं। नौकरी करने वाली लड़की और नौकरी करने वाले लड़के को भी मां और परिवार अलग-अलग व्यवहार देते हैं। लड़का दफ्तर के बाद सैर-सपाटे के लिए निकलने को स्वतंत्र है और लड़की मां के काम में हाथ बंटाने को अभिशप्त। इन जीवन स्थितियों ने नौकरीपेशा नारी की अनेक प्रकार की समस्याओं को जन्म देकर उसे एक नयी जीवन-दृष्टि अपनाने को विवश किया। कहीं उसने पुरातन मान्यताओं को तोड़ा, कहीं उनमें परिवर्तन किया तो कहीं अपने लिए जीवन की नई लीक तैयार की। यह सब हमारे समाज का बदला हुआ परिदृश्य है।

आज के सामाजिक जीवन का बहुत बड़ा अभिशाप है भ्रष्ट-व्यवस्था। हमारे सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रदूषण व्याप रहा है। आधुनिक जीवन में यह प्रदूषण केवल जलवायु या जीवन जीने की स्थितियों तक ही सीमित नहीं रह गया है। भूमि, वायु, जल और शोर का प्रदूषण आधुनिक नगरों और महानगरों की नियति बन गया है। हरित-क्रान्ति, श्वेत-क्रान्ति और अन्य क्रान्तियों के माध्यम से यदि एक ओर खाद्यान्नों और खाद्य-पदार्थों की प्राप्ति की सुविधा हुई है तो दूसरी ओर विभिन्न प्रकार के खाद और औषधियां पशुओं के चारे और दाने आदि में विभिन्न तत्त्वों के मिश्रण से समस्त खाद्य-पदार्थों, यहां तक कि सब्जियों आदि का भी प्रदूषण हुआ है। जीवन जीने की ऐसी स्थितियों में जो व्यवस्था हमारे समाज का किसी भी स्तर पर नियमन करती है, वह भी बुरी तरह प्रदूषित है। किसी भी दफ्तर, अस्पताल, स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, कल-कारखाने, सरकारी अर्ध-सरकारी संस्थान में चले जाइए, भ्रष्टता के एक से एक नये रूप प्राप्त होंगे। सुरसा-सा मुंह फाड़ती महंगाई और जीवन जीने की

स्थितियों का विषमतर होते जाना, हाथ पर पैसे रखे घूमते रहने और लाइनों में खड़े होने के पश्चात् भी जीवन की जरूरी चीजों—कोयला, तेल, डीजल, गैस (और कुछ स्थानों पर पानी की भी प्रत्येक बाल्टी २-३ रुपये में बिकना) आदि की प्राप्ति दुष्कर होना, दिन-प्रतिदिन जन-संख्या का खतरे की हद तक बढ़ना, शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार और शिक्षित बेरोजगारों की बढ़ोतरी से व्याप्त असंतोष आदि कुछ ऐसे कारण हैं जो हमारे जीवन को दूभर बनाये हुए हैं। इस सबके बीच भी फैशन की वस्तुओं के प्रति अतिरिक्त आकर्षण, कपड़े और कास्मेटिक्स की दुकानों पर हर समय माह के आखिरी सप्ताह और आखिरी तारीखों में भी लगने वाली भीड़ इस बात के प्रमाण हैं कि आज हमारी जीवन-दृष्टि इस प्रकार बदली हुई है कि हम चाहे खायें कुछ भी और कितना ही अपर्याप्त रूप से किन्तु 'दीखने' में सामाजिक रुतवे (सोशल स्टेटस) में, कहीं कोई कमी नहीं आनी चाहिए। इस सबका हमारी मूल्य-दृष्टि पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। आज व्यक्ति येन केन प्रकारेण आर्थिक समृद्धि के चरम को छूना चाहता है, भले ही उसके लिए उसे कितना ही भ्रष्ट व्यवस्था का अंग क्यों न बनना पड़े। आज समाज में व्यक्ति के आर्थिक स्तर को महत्त्व प्राप्त हो गया, किसी को यह चिन्ता नहीं कि उसने यह आर्थिक समृद्धि किन रास्तों और साधनों से अख्तियार की। गांधी के देश में ही साधन नहीं, साध्य भी प्रमुख हो उठे। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'सबहि नचावत राम गुसाईं' के अन्तर्गत प्रयुक्त नारा 'एल० एम० बी०' (लूटो मेरे भाई) मानो आज का युग-धर्म हो गया। इन स्थितियों मे हमने सामाजिक जीवन के श्रेयस्कर मूल्यों को तिलांजलि दे डाली या वे मूल्य केवल सार्वजनिक प्रदर्शन की वस्तु बन गए। वास्तविक जीवन में केवल वही मूल्य अपनाये गए जो मनुष्य के लिए आर्थिक समृद्धि के द्वार खोलते हैं। सामाजिक जीवन में साध्य का ही महत्त्व हो गया, उस साध्य की प्राप्ति के साधन भले ही कितने निकृष्ट क्यों न हों। जो व्यक्ति साधनों की श्रेष्ठता की बात गलती से भी करता है उसे अव्यावहारिक और थोथा कहा जाता है कि उन आदर्शों में क्या रखा है? इस प्रकार यहां आदर्श टूटकर यथार्थ की कठोर जमीन पर आकर वास्तविकता बनने को विवश हुए।

भारत के परिवर्तित सामाजिक परिदृश्य में एक बात और विचारणीय है। वह है ऊंच-नीच, वर्ण, जाति, कुल, गोत्र की सीमाओं का बहुत हद तक टूटना और मानव मात्र की समानता की भावना की परिव्याप्ति। आर्य समाज जैसे धार्मिक-सामाजिक आंदोलन, गांधी जी जैसे युग-प्रवर्तक चिन्तकों के अथक प्रयास ने जाति-कुल गोत्र के आधार पर समानता का पाठ पढ़ाया था, फिर भारत के स्वतंत्र होने पर 'वोट की राजनीति' ने भी सामाजिक समानता के स्थापन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। हरिजनों, पिछड़े वर्गों और तथाकथित अन्य छोटी जातियों के वोट प्राप्त करने की होड़ में प्रत्येक राजनीतिक दल ने सब जातियों की समानता की बात 'मंच' से अवश्य ही कही और जो राजनीतिक दल अपने को इन वर्गों का सच्चा हिमायती या अधिक हितैषी सिद्ध कर सका उसने इस वर्ग के अधिकाधिक वोटों को हथियाया। किन्तु इतना सब होते हुए भी हमारे समाज में अपेक्षित जातिगत समानता स्थापित नहीं हो पाई। सवर्ण जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों में तो जातिगत बन्धन ढीले हुए और उनमें पर्याप्त रूप से समानता की भावना आई किन्तु जब सवर्ण जातियों ने तथाकथित शूद्र-हरिजन, आदि के साथ व्यावहारिक स्तर पर सम्पर्क किया तो उसमें हाथी के दांतों में दिखाने और खाने का फर्क बना रहा। इन सब स्थितियों से विद्रोह करके जब भी किसी हरिजन युवक ने किसी सवर्ण जाति की कन्या से विवाह किया तो समाज मध्यकालीन स्थिति में लौट आया और केवल कानून तथा पुलिस का ही संरक्षण उन्हें बचा पाया। यह स्थिति हमारे समानता के घोषित मूल्यों

को खुलकर चुनौती देती है। इस प्रकार जातिगत समानता को हमारा समाज पूरी तरह अभी भी आत्मसात् नहीं कर पाया है।

नैतिक मूल्यों का क्षेत्र

नैतिक मूल्य हमारे कर्तव्य और आचरण-पक्ष को निर्धारित करते हैं। वस्तुतः नैतिक मूल्य आदर्श व्यवहार के नियामक होते हैं। 'अच्छाई' ही नैतिकता का आधार होती है। किन्तु अच्छाई का कोई सार्वभौम और शाश्वत आधार नहीं होता। मनुष्य अपनी इच्छाओं, वासनाओं, अनुभूति या विचारों की तुष्टि को उचित माने अथवा इसके दमन को—इन्हीं आधारों पर प्रत्येक देश और युग की नैतिकता का नियमन होता है। नैतिकता का अंकुश जब बहुत अधिक बढ़ जाता है तो मनुष्य की इच्छाओं, वासनाओं, आदि के दमन स्वरूप नैतिक कानून ही नैतिक मूल्यों के पतन के लिए उत्तरदायी हो जाते हैं। नैतिकता जबर्दस्ती लादी जाती है तो व्यक्ति उसके प्रति विद्रोह करता है, प्रत्येक देश और समाज का इतिहास इसका साक्षी है।

आज समस्त विश्व में नैतिक मूल्यों में यह दृष्टि सर्वोपरि है कि उससे व्यक्ति का व्यक्तित्व कुण्ठित न होता हो। कार्ल मार्क्स के दर्शन के सर्वव्यापी प्रभाव ने मानवीय स्वतन्त्रता और मानवीय कल्याण को ही समस्त नैतिक मानों की आधारभूमि बताया। सार्त्र आदि ने ईश्वर के महत्त्व को अस्वीकार कर प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व का महत्त्व स्वीकारा है। भारतीय संदर्भ में राममोहन राय, विवेकानंद एवं गांधी जैसे चिंतकों ने 'मानवीय संवेदना (बेनिवोलेन्स) और तर्क (रीज़न) को नैतिक मूल्यों का मूलाधार स्वीकार कर' हमारी दृष्टि को पुराणपंथी दृष्टि से मुक्त किया। इसके अतिरिक्त फ्रायड आदि के काम-दर्शन का प्रभाव भी आधुनिक युग के नैतिक मानों के निर्धारण में अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। जीवशास्त्र और गर्भनिरोध के साधनों की खोज और प्रचार-प्रसार ने भी आधुनिक युग की नैतिक धारणाओं को प्रभावित किया। इसीलिए इस युग में यौन-स्वतंत्रता की धारणा को बल मिला। आज वर्जना (इन्हिबिशन) और निषेध (टैबूज) को नकार कर एक यौन-मुक्ति का आन्दोलन प्रधानता पा रहा है। युग की अर्थ प्रधान और उपयोगितावादी दृष्टि के परिणामस्वरूप मानवीय नैतिक आचार भी इन्हीं तत्त्वों से नियमित होने लगा है। इसीलिए आज मानवीय करुणा, ईमानदारी, भ्रातृत्व, परोपकार आदि के नैतिक मानों के संदर्भ उपयोगितावादी दृष्टि के कारण बदले हुए हैं। वर्तमान युग के यांत्रिक, तकनीकी, औद्योगिक विकास, महानगरीय सभ्यता आदि ने भी अपने ढंग से आज की नैतिकता का नियमन किया है। आज ईमानदारी, न्याय, सत्य-पालन आदि के आचार सम्बन्धी नैतिक मूल्य भी बुरी तरह टूट रहे हैं। इन मूल्यों का महत्त्व केवल घोषणाओं में, सार्वजनिक दिखावे मात्र में है। व्यक्ति अपने जीवन में इन उच्चतर नैतिक मूल्यों को ध्वस्त करता है। जो व्यक्ति इनका पालन करते हुए मुफलिसी में रह जाता है, उसे कोई दो टके को भी नहीं पूछता और जो व्यक्ति इन मूल्यों का भंजन करता हुआ आर्थिक उन्नति के शिखर आयत करता है, सभी उसका वर्चस्व स्वीकार करते हैं। इन मूल्यों की अवहेलना करने वाले को भी समाज यदि प्रत्येक प्रकार की मान्यता, सामाजिक रुतबा प्रदान करता है तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि उस समाज ने इन मूल्यों को अस्वीकार-सा कर दिया है, उनके प्रति निष्ठा-प्रदर्शन केवल थोथा दिखावा मात्र है। साहित्य और कलाओं का समकालीन इतिहास इस बदली हुई मूल्य-दृष्टि का साक्षी है। □

प्रेमचन्द और आधुनिक हिन्दी कहानी

□ हरिकृष्ण कौल

हिन्दी साहित्य में शुरू से ही दो समानान्तर और एक हद तक परस्पर विरोधी कथा-प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। एक ओर गिरिजादत्त वाजपेयी की 'पंडित और पंडितानी' (सरस्वती, दिसम्बर, १९०३) तथा बंग महिला की 'दुलाई वाली' (सरस्वती, मई, १९०७) जैसी दैनिक जीवन के विविध प्रसंगों के प्रकृत और सत्याभासी (प्लॉज़िबॅल) चित्रण के आधार पर रची गई कहानियां मिलती हैं। दूसरी ओर रहस्यपूर्ण और रोमानी वातावरण की सृष्टि करने वाली किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' (सरस्वती, जून, १९००) और रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारहवर्ष का समय' (सरस्वती, सितम्बर, १९०६) जैसी कहानियां भी मिलती हैं। प्रथम कोटि की कहानियों में रचित संसार इसी वास्तविक संसार का प्रतिरूप और उनके पात्र इसी संसार में विचरण करने वाले जीव नज़र आते हैं। इसके विपरीत दूसरी कोटि की कहानियों के पात्र अपने इर्दगिर्द एक अलग और विलक्षण संसार की सृष्टि करते हैं जिसे यदि इस वास्तविक संसार का प्रतिरूप मानना ही हो, तो उसे धुंधला और विकृत प्रतिरूप ही माना जा सकता है। इन दोनों कथा-प्रवृत्तियों का परिष्कार हमें प्रेमचंद और प्रसाद की कहानियों में मिलता है। प्रेमचंद ने मानव स्थितियों के विश्वसनीय चित्रण को बृहद सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में देखकर तथा अपने लेखन को सोद्देश्यता से जोड़कर हिन्दी में यथार्थवादी कथा-परम्परा की शुरुआत की। दूसरी ओर प्रसाद ने रोमानी कथा प्रवृत्ति का परिष्कार करके हिन्दी में भाववादी और कुछ आलोचकों के अनुसार आदर्शवादी कथा-धारा का प्रवर्तन किया। प्रेमचंद के कथा-संसार का इस वास्तविक संसार के साथ सम्बन्ध मुख्यतया समाजशास्त्रीय प्रतिरूपात्मक (socialogical reoresentational) और कहीं-कहीं दार्शनिक (illustrative) है। तात्पर्य यह है कि उन्होंने अधिकतर मनुष्य का चित्रण उसके सामाजिक परिवेश में करके इसी संसार को प्रतिरूपायित किया है। हां, कहीं-कहीं उनकी कहानियां किसी भाव या विचार के दृष्टान्तस्वरूप रची गई दीखती हैं और लगता है कि इस भाव या विचार को मूर्तरूप देने के लिए ही घटनाओं, स्थितियों और पात्रों की योजना की गई है। परन्तु यह भाव या विचार भी कोई अमूर्त सत्य न होकर सहज इतिहास दृष्टि से देखे गये सामाजिक यथार्थ के किसी एक पक्ष को ही रेखांकित करता है। दूसरी ओर प्रसाद के कथा-

जगत् का इस वास्तविक जगत के साथ सम्बन्ध पूर्णरूप से दार्ष्टांतिक है। उनके पात्र अपनी आसपास की सामाजिक परिस्थितियों से कटे केवल अपने अन्तर्जगत में विचरण करते हैं और उनकी कहानियां जीवन को प्रतिरूपायित करने हेतु नहीं, किसी विचार या भाव के लिए दृष्टान्त प्रस्तुत करने हेतु ही रची गई लगती हैं। यह विचार या भाव प्रायः सामाजिक यथार्थ से असम्बद्ध कोई चिरंतन या नैतिक प्रश्न होता है—प्रश्न की चिरंतनता कहीं-कहीं इतिहास सत्य की अपेक्षा करती है और उसकी नैतिकता समाज-निरपेक्ष होती है। प्रसाद कवि थे और ऐसा लगता है कि वे कहानी के लिए भी कविता के प्रतिमानों को ही ठीक समझते थे। गद्य और कथा-तत्व के अतिरिक्त भी इस विधा की अपनी कुछ मांगें हैं, इसकी ओर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। कहानी सहज और अनायास शिल्प चेतना तथा पारदर्शी और नंगी भाषा की मांग करती है जिससे मूल कथ्य और अनुभव धुंधला न पड़ जाय—इस सत्य को प्रसाद नहीं, प्रेमचंद पा सके थे।

प्रेमचंद हिन्दी कथा-यात्रा का वह पड़ाव है जहां पहुंचकर पहली बार उपलब्धि का एहसास होता है। उन्होंने अपने दर्जनों उपन्यासों और सैंकड़ों कहानियों में न केवल उत्तर भारत के किसानों की दुर्दशा और शहरी मध्यवर्ग की कुरीतियों का चित्रण किया है अपितु हिन्दी में आख्यायिका से भिन्न आधुनिक उपन्यास और कहानी को जन्म भी दिया। इस दृष्टि से सारा आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य प्रेमचंद की ही परम्परा है। बीज जिस प्रकार पत्तों, फूलों और फलों में अपने परिवर्तित और परिष्कृत रूप में विद्यमान रहता है उसी प्रकार, कहा जा सकता है कि समस्त परवर्ती हिन्दी कथा साहित्य प्रेमचंद साहित्य का ही विस्तार है। परन्तु यह एक ऐसा सामान्यीकरण है जिसे तथ्यों की कसौटी पर कसकर कुछ सीमित कर देना बेहतर रहेगा। इस बात को तनिक स्पष्ट करना आवश्यक है। एक ओर प्रेमचंद का कथा संसार है। दूसरी ओर उनके तुरन्त बाद आने वाले--जैनेन्द्र और थोड़ा बाद में आने वाले इलाचंद्र जोशी और 'अज्ञेय' के कथा संसार हैं। क्या ये संसार एक जैसे हैं? प्रेमचंद का संसार छोटे और भूमिहीन किसानों, गरीब क्लर्कों, दफ्तरियों और चपरासियों, आर्थिक असुरक्षा की शिकार वृद्धाओं और विधवाओं जैसे आम लोगों से आबाद है। जैनेन्द्र, जोशी और 'अज्ञेय' के कथा संसारों में अज्ञात लक्ष्य के लिए लड़ने वाले महापुरुष, नारी के अनावृत शरीर और अश्रुसिंचित आंखों में ही अपने जीवन और मिशन की सार्थकता देखने वाले क्रान्तिकारी, श्मशान में मुर्दे की भूनी बोटियां खाने वाले कापालिक, यौन ग्रंथियों और मानसिक गुत्थियां में उलझे नारी-पुरुष अपनी बौद्धिकता और आभिजात्य से पाठकों को आतंकित करने वाले असाधारण व्यक्ति ही विचरण करते हैं। चूंकि दोनों संसारों में भिन्न प्रकार के लोग बसते हैं इसलिए उनकी समस्याएं भी भिन्न हैं। संरचना, रूप और निर्वाह की दृष्टि से भी जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी और अज्ञेय की कहानियां प्रेमचन्द की कहानियों से भिन्न कोटि की नजर आती हैं। प्रेमचंद की कहानियों की संरचना सहज वर्णनात्मक और ऐपिसोडिक है—कहानी लोक-कथा या किसी दास्तान की तरह आगे बढ़ती है और बीच-बीच में नाटकीय प्रसंग सहज रूप से आते रहते हैं। इसके विपरीत इलाचंद्र जोशी की कहानियों की संरचना सायास, गढ़ी हुई और एक तरह से भौंडी है। ठीक है जैनेन्द्र और 'अज्ञेय' की कहानियां संरचना की दृष्टि से अधिक परिष्कृत (सोफिस्टिकेटिड) हैं, पर प्रेमचंद की सहजता उनमें भी नहीं है। कथ्य हो या शिल्प प्रेमचंद की विशेषता और उनकी शक्ति उनकी यथार्थ दृष्टि है। यह यथार्थ दृष्टि न केवल प्रेमचंद द्वारा उस समय के भारतीय समाज के अनेक वर्गों के पात्रों, उनके आपसी सम्बन्धों, उनसे सम्बद्ध विविध

समस्याओं, घटनाओं, परिस्थितियों, परिस्थितिजन्य भावनाओं एवं विचारों के प्रामाणिक चित्रण में, अपितु उनकी सहज कथात्मक संरचना में, उनकी अकृत्रिम और अलंकरण रहित शैली में, शिल्प और भाषा की सम्भावनाओं को जिये जा रहे जीवन के अन्दर से ही खोजने के उनके प्रयत्नों में भी दिखाई देती है। यही वह यथार्थ दृष्टि है जिसके सहारे परवर्ती कथा-साहित्य में उन सूत्रों की खोज की जा सकती है जो उसे प्रेमचंद के कृतित्व से जोड़ते हैं और फलस्वरूप इस अतिव्याप्ति और सामान्यीकरण से बचा जा सकता है कि समस्त आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य प्रेमचंद की परम्परा है।

यह सत्य है कि प्रत्येक विषय या कथ्य अपने लिए उपयुक्त माध्यम या विधा की तलाश करता है। पर यह भी सत्य है कि विधा की अपनी प्रकृति भी कथ्य के चयन और उसकी अभिव्यक्ति को प्रभावित करती है। विधा की इसी प्रकृति या मांग के कारण ही सम्भवतः प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानी में भी आधुनिकता के सारे दावों और शोर-शराबे के बावजूद मानव को अधिकतर उसके सामाजिक संदर्भ और परिवेश में चित्रित किया गया है। हिन्दी की आधुनिक कहानी में आधुनिक कविता की अपेक्षा सामाजिक चेतना अधिक है। आधुनिक युग में कविता के क्षेत्र में जितने आन्दोलन चले उनमें से अधिकांश के मूल में एक ओर 'नदी के द्वीप' का व्यक्तिवादी दर्शन रहा है तो दूसरी ओर उसमें पूर्ववर्त्ती काव्य परम्परा का एकदम अस्वीकार मिलता है। इसके विपरीत कहानी के क्षेत्र में अकहानी को छोड़कर नयी कहानी, साठोत्तरी कहानी, सचेतन कहानी, समान्तर कहानी आदि जो भी आन्दोलन (इन आन्दोलनों को कथा-आन्दोलन कहने की अपेक्षा कलाकारों के विभिन्न शिविर कहना अधिक समीचीन रहेगा) चले, उनमें एक तो व्यक्ति को उसके पारिवारिक और सामाजिक परिवेश में आंकने-परखने का दावा किया गया और दूसरे इन सभी आन्दोलनों को प्रेमचंद की ही परम्परा का विस्तार घोषित किया गया। इस प्रकार प्रेमचंद की परम्परा हिन्दी कहानी की एक ऐसी केन्द्रीय धारा है जो जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' जैसे लेखकों द्वारा कुछ समय तक अवरुद्ध किए जाने पर भी यशपाल, अश्क, नागर, नागार्जुन, रांगेय राघव, राकेश, अमरकान्त, भीष्म साहनी, कमलेश्वर, रेणु, ज्ञानरंजन, काशीनाथसिंह, इब्राहीम शरीफ़, जितेन्द्र भाटिया, आलम शाह खान आदि कलाकारों के लेखन से समृद्ध होकर आज तक प्रवाहित है।

इन कहानीकारों ने जो समस्याएं उठाई हैं वे निश्चय ही प्रेमचंद की कहानियों में मिलने वाली समस्याओं से भिन्न हैं। समस्याओं के प्रति नये कहानीकारों का ऐप्रोच भी प्रेमचंद के ऐप्रोच से अलग है। परवर्ती कहानियों का रूप और निर्वाह भी प्रेमचंद की कहानियों जैसा नहीं है—परन्तु ये सारे अन्तर उन्हें प्रेमचंद की परम्परा से अलग नहीं करते। समय बीतने के साथ मनुष्य के परिवेश और मानवीय सम्बन्धों में परिवर्तन आता ही है। यह परिवर्तन कला-रूपों को कैसे अपरिवर्तित रहने दे सकता है? परवर्त्ती कहानीकार भी यदि वस्तु और कथ्य की दृष्टि से प्रेमचंद की-सी ही कहानियां रचते तो उसका स्पष्ट अर्थ यही होता कि इन तीस-चालीस वर्षों में भारतीय समाज पूरी तरह गतिहीन रहा है। इस लम्बी अवधि में हिन्दी कहानी अवश्य बदली है क्योंकि प्रत्येक सार्थक कृति का जन्म परम्परागत कलारूपों के साथ कृतिकार के अनुभव के द्वंद्व से ही होता है। परन्तु जहां तक वस्तु और कथ्य में निहित अर्थ का सम्बन्ध है, प्रेमचंद की कहानियां और कुछ एक अपवादों को छोड़कर परवर्त्ती हिन्दी कहानियां समानरूप से वर्तमान शती के यथार्थ के विभिन्न पक्षों को ही रेखांकित करती हैं।

इसी प्रकार परवर्ती हिन्दी कहानी का कला की दृष्टि से अधिक परिष्कृत होना भी

उसे प्रेमचंद की परम्परा से अलग नहीं करता है। साहित्य का माध्यम भाषा है और कोई भी भाषा अपनी सम्भावनाओं और शक्ति को यकायक प्रकट नहीं करती है। उन्हें खोजने में अनेक पीढ़ियां लग जाती हैं। यह तो विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया है कि आज की हिन्दी कहानी शिल्प की दृष्टि से अधिक परिष्कृत नजर आती है। उसमें वर्णनात्मकता और व्याख्या की अपेक्षा नाटकीयता और सांकेतिकता से अधिक काम लिया जाता है। कहानी में शिल्प चेतना का 'विकास' जो स्वयं प्रेमचन्द में भी 'सप्त सरोज' और 'नवविधि' की कहानियों से लेकर 'कफ़न', 'पूस की रात', 'मनोवृत्ति' तक की यात्रा में लक्षित होता है, कैसे इस महान कथाकार के मंच से हट जाने के साथ ही अवरुद्ध होता। अतः शिल्प की दृष्टि से उत्तरोत्तर विकसित हो रही हिन्दी कहानी प्रेमचन्द की परम्परा का ही विस्तार है। यदि वह इतिहास और समय के यथार्थ, व्यक्तिगत समस्याओं के सामाजिक परिप्रेक्ष्य मानव स्थिति के परिवर्तन के लिए संघर्ष की आवश्यकता और सोद्देश्यता को नहीं नकारती है।

'कफ़न', 'पूस की रात', 'मनोवृत्ति' को जो बात 'सौत', 'राजा हरदौल' और 'रानी सारन्धा' से अधिक प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण बनाती है वह केवल उनकी विकसित शिल्प चेतना ही नहीं है। वस्तुतः इन कहानियों में प्रेमचन्द ने मानव स्थिति को जिस विकसित यथार्थ दृष्टि से देखा है उसीने इनके शिल्प को प्रभावशाली और सशक्त बनाया है। प्रेमचन्द आरम्भ से ही वर्तमान परिस्थितियों में छोटे किसान, मामूली क्लर्क, असहाय नारी आदि की दुरावस्था से क्षुब्ध थे और इन परिस्थितियों में परिवर्तन चाहते थे। पर इस परिवर्तन की प्रक्रिया और स्वरूप क्या होगा, इस बारे में उनका कोई स्पष्ट मत नहीं था। समय बीतने के साथ-साथ उनकी इतिहास दृष्टि पैनी होती गई और छोटे किसानों की छोटी-छोटी आकांक्षाओं—जैसे थोड़ी-सी निजी जमीन, गाय आदि के समर्थक होते हुए भी प्रेमचन्द उस अवश्यम्भावी संकट को पहचान गये थे जिसमें किसान अपना सब कुछ खोने के लिए अभिशप्त है। पर यह पैनापन भावबोध और संवेदना के स्तर पर ही दृष्टिगोचर होता है। विचारधारा के धरातल पर प्रेमचन्द अन्त तक भी यथेष्ट प्रगतिशील नहीं बन सके। वे बहुत समय तक गांधीवाद से प्रभावित रहे। गांधी-वाद के प्रति मोह भंग होने पर भी वे विकल्प के रूप में स्पष्टतया किसी अन्य विचारधारा को अपना नहीं सके। हां, रचनाकाल के कुछ आरम्भिक वर्षों को छोड़कर भावबोध के स्तर पर वे हमेशा प्रगतिशील रहे। प्रेमचन्द ने किसानों के बारे में लिखा है—यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि प्रेमचन्द ने किसान के दृष्टिकोण से अपना साहित्य रचा है—उस किसान के दृष्टिकोण से जिसे बड़े लोगों की सारी सद्भावना, उनका हृदय परिवर्तन, उनकी समाज सेवा और त्याग मजदूर बन जाने की नियति से बचा नहीं सकते। प्रेमचन्द का प्रगतिशील भावबोध यह है कि 'नमक के दारोगा' में गरीब और ईमानदार मुंशी वंशीधर के सत्य से प्रभावित होकर धनवान पंडित अलोपीदीन का जाहिरी तौर पर हृदय परिवर्तन हो जाता है और वह उसे अपनी स्थायी जायदाद का मैनेजर नियुक्त करता है। लेकिन अर्थ के एक गहरे स्तर पर पंडित अलोपीदीन अपने वर्ग चरित्र को प्रकट (betray) करते हुए गरीब वंशीधर की ईमान-दारी और नमक हलाली का प्रयोग बेईमानी और हराम की कमाई से अर्जित अपनी निजी जायदाद बढ़ाने के लिए करता है। वही प्रगतिशील भावबोध और पैनी यथार्थ दृष्टि हमें प्रेमचंद की 'कफ़न' और 'पूस की रात' जैसी कहानियों में ही नहीं अपितु प्रेमचन्दोत्तर काल की 'उत्तमी की मां', 'पर्दा', 'गदल', 'मलबे का मालिक' 'डिप्टी कलक्टरी', 'चीफ़ की दावत' 'राजा निर-बंसिया', 'लंदन की एक रात', 'जहां लक्ष्मी कैद है', 'पुरानी कहानी : नया पाठ', 'यारों के यार'

'परायी प्यास का सफर' आदि सैंकड़ों कहानियों में मिलती है। उपरोक्त कहानियों में अनेक कहानियां ऐसी हैं जिनके लेखकों की विचारधारा पर शक किया जाता है। कतिपय आलोचकों के अनुसार इन लेखकों में विचारधारा के स्तर पर यथेष्ट प्रतिबद्धता का अभाव है और इस कारण ये प्रेमचन्द की परम्परा से बाहर हैं। पर जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है हिन्दी कहानी में प्रेमचन्द की परंपरा विचारधारा के आधार पर नहीं, भावबोध के आधार पर निश्चित की जा सकती है। और जो कहानीकार वैचारिक धरातल पर अपने को अधिक प्रगतिशील और प्रतिबद्ध मानते हुए केवल अपने को ही प्रेमचन्द की विरासत के अधिकारी मानते हैं, उनमें से अनेक ऐसे हैं जिन्होंने प्रगतिशीलता को केवल ऊपर से ओढ़ रखा है जिसे यदि तनिक भी हटाया जाय तो नीचे प्रतिक्रियावादी भावबोध और पुरातनपंथी संवेदना नंगी हो जाएगी। इस बात की और चर्चा आगे की जाएगी।

हो सकता है कुछ लोग हिन्दी में प्रेमचन्द की परम्परा को इस हद तक व्यापक मानने के लिए तैयार नहीं हों। इनमें वे लोग भी शामिल हैं जो ग्रामांचलों को लेकर लिखी गई कहानियों को ही प्रेमचन्द की परम्परा का पर्याय मानते हैं। इनकी मान्यता के अनुसार चूंकि प्रेमचन्द ने अधिकतर भारतीय गांवों के विषय में ही लिखा है, इसलिए नगरों, महानगरों या विदेशों को लोकाल के रूप में चुनने वाली परवर्ती हिन्दी कहानियां प्रेमचन्द की परम्परा के प्रतिकूल जाती हैं। परन्तु जिस रचनात्मक दबाव से उस महान कथाकार ने 'पूस की रात' 'अलग्योझा', 'पंच परमेश्वर' आदि ग्रामीण परिवेश की कहानियां लिखी हैं उसी से 'मनोवृत्ति', 'दफ्तरी', 'विषय समस्या' जैसी शहरी जीवन की कहानियां भी रचीं—इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए मार्कण्डेय और शिवप्रसादसिंह जैसे तथाकथित ग्रामकथाओं के लेखकों को ही प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी घोषित किया जाता है। इस उत्तराधिकार के लिए मार्कण्डेय इस कारण भी दावा कर सकते हैं कि वे विचारधारा के स्तर पर प्रगतिशील, प्रेमचन्द से भी अधिक प्रगतिशील और प्रतिबद्ध हैं। खैर, यहां प्रसंग ग्रामकथाओं का है। मार्कण्डेय ने निस्संदेह अधिकतर ग्रामीण परिवेश को लेकर ही कहानियां लिखी हैं। लेकिन इस ग्रामीण जीवन में उन्होंने जो कुछ भी देखा है उससे यही लगता है कि उनकी दृष्टि प्रेमचंद से तेज नहीं, प्रेमचन्द जैसी साफ भी नहीं, बल्कि धुंधली और माइओपिक है। उदाहरण के लिए उनके पहले कहानी संग्रह 'पान फूल' को लिया जा सकता है जिसका प्रकाशित होते ही तत्कालीन साहित्यिक वातावरण का सहारा लेते हुए जोर शोर से प्रचार किया गया और 'कल्पना' के दिसम्बर, ५४ के अंक में धर्म वीर भारती, प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्रीपतराय ने जिसकी एक साथ तीन लम्बी समीक्षाएं लिखकर वह गौरव प्रदान किया जो इससे पूर्व कदाचित ही किसी हिन्दी कहानी-संग्रह को मिला हो। 'गुलरा के बाबा' इस संग्रह की पहली कहानी है। कहानी का लोकाल अवश्य गांव है पर कहानी में वास्तव में न कहीं गांव है और न ही गांव वालों की कोई समस्या। कहानी में केवल गुलरा के बाबा हैं जो एक ठाकुर हैं और शायद इसीलिए 'कामायनी' के मनु[१] और 'कुमार सम्भव' के महादेव शंकर[२] के मिले-जुले अवतार हैं' कहानी में मार्कण्डेय सिंह गंजन सिंह के सुपुत्र गुलरा के बाबा के ठाकुरोचित गुणों—वीरता, क्षमा, दया आदि का बखान करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाये हैं। इसी प्रकार 'नीम की टहनी' तथा अन्य कहानियों में भी

१. "उनके उन्नत वक्षस्थल पर बनी हुई, कड़ी कड़ी मांसपेशियां और बलिष्ठ भुजाएं, जैसे सीक से छू दो तो खून आ जाए···" (पानफूल, पृ० १५)
२. वही, पृ० १६

न्यूनाधिक मात्रा में ठाकुरों का जातिगत अभिमान और गौरव ही दृष्टिगोचर होता है। शिवप्रसाद सिंह ने भी ग्रामीण परिवेश को लेकर कहानियां लिखी हैं किंतु वे गांवों को प्रेमचन्द की तरह खुली धूप में देखने की अपेक्षा रोमानियत के सम्मोहक पर कृत्रिम प्रकाश में देखना अधिक पसन्द करते हैं। 'नन्हों' उनकी बहुत ही चर्चित कहानी है, परन्तु इसमें प्रेमचन्द की नहीं, शरत चंद्र की संवेदना मिलती है। मार्कण्डेय और शिवप्रसाद सिंह की इस संक्षिप्त चर्चा का उद्देश्य यहां केवल यह दर्शाना है कि ग्रामांचल को कथांचल या लोकांचल के रूप में चुनने मात्र से ही कोई कहानीकार प्रेमचन्द का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता है।

और कहने वाले यह भी कहते हैं कि नये और आज के हिन्दी कहानीकारों में कोई भी वास्तव में प्रेमचन्द का उत्तराधिकारी नहीं है और यह बात कहकर वे दुःख नहीं प्रसन्नता ही प्रकट करते हैं। इन लोगों के अनुसार प्रेमचन्द के लेखन का ऐतिहासिक महत्त्व हो सकता है पर उनकी विरासत में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे सुरक्षित रखने के लिए नयी पीढ़ी प्रयत्नशील रहे। जो इस दिशा में प्रयत्नशील हैं वे वास्तव में द्वितीय श्रेणी के लेखक हैं। प्रेमचन्द का लेखन नये युग की नयी वास्तविकता के संदर्भ में अप्रासंगिक है। प्रेमचंद साहित्य के द्वारा सुधार चाहते थे, वे कहानी उपन्यास को सामाजिक परिवर्तन के लिए हथियार मानते थे। आज का लेखक इस प्रकार का कोई दावा करना बेकार समझता है। इस युग की कहानी, निर्मल वर्मा के शब्दों में 'अन्धेरे में चीख' है या हो सकती है। आज की कहानी के केन्द्र में असंगति बोध से ग्रस्त अजनबीपन और अकेलेपन का शाप ढोता हुआ आज का मनुष्य ही हो सकता है, स्थूल और सतही बातों के लिए परेशान प्रेमचन्द के पात्र नहीं—इत्यादि इत्यादि। किसी-किसी शोधकर्ता ने तो प्रेमचन्द के साहित्य और परवर्ती हिन्दी कथा साहित्य के मध्य बहुत ही क्षीण सम्बन्ध जाहिर करते हुए प्रायः सभी आधुनिक कथाकारों, यथा मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, अमर कान्त, मार्कण्डेय, भीष्म साहनी, फणीश्वरनाथ रेणु, धर्मवीर भारती, रामकुमार, निर्मल वर्मा, मन्नू भण्डारी, शिवप्रसाद सिंह, नरेश मेहता, उषा प्रियम्वदा, कृष्ण बलदेव वैद, कृष्णा सोबती, सोमा वीरा, श्रीमती विजय चौहान, ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, श्रीकान्त वर्मा, शानी, रवीन्द्रनाथ कालिया, शशिप्रभा शास्त्री, राजकमल चौधरी, गंगाप्रसाद विमल, ममता कालिया कुलभूषण, सुधा अरोड़ा, गिरिराज किशोर, मनहर चौहान, रामदरश मिश्र, प्रयाग शुक्ल, लक्ष्मीकान्त वर्मा, से० रा० यात्री इत्यादि को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अस्तित्ववाद से प्रभावित माना है।[1] यहां इस बात से बहस नहीं कि ये सारी मान्यताएं, स्थापनाएं और घोषणाएं वास्तविकता से कितना मेल खाती हैं। हां, इस तथ्य की ओर संकेत करना आवश्यक है कि प्रेमचंद ने केवल 'स्थूल' पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों को लेकर सतही कहानियां ही नहीं लिखी हैं। उनके भी अनेक पात्र अजनबीपन और अकेलेपन का भार ढोते नजर आते हैं। परन्तु उनके इस अकेलेपन, उनके विसंगति बोध के मूल में विषम सामाजिक परिस्थितियां हैं। 'बौड़म' 'सज्जनता का दण्ड', और एक ऊंचे धरातल पर 'पूस की रात' और 'कफन' के कथानायक प्रतिवेश और परिस्थितियों के साथ संगति बिठाने में असमर्थ अपने को अजनबी और निष्कासित अनुभव करते हैं। पर उनका यह निष्कासन उनके अस्तित्व की अनिवार्य नियति न होकर परिस्थिति जन्य है। प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानी में जहां-जहां मनुष्य के अकेलेपन को मानव अस्तित्व की अनिवार्य शर्त न मानकर विषम सामाजिक स्थिति के परिणामस्वरूप देखा गया है

१. अस्तित्ववाद और नयी कहानी, डॉ० लालचन्द गुप्त मंगल, पृ० २५४।

वहां-वहां प्रेमचंद की परम्परा के दर्शन होते हैं। परवर्ती हिन्दी कहानी में इसका उत्कृष्ट उदाहरण कमलेश्वर की 'खोयी हुई दिशाएं' जैसी कहानियां ही नहीं निर्मल वर्मा की कहानी 'लंदन की एक रात' भी हैं, भले ही इसके रचयिता अपने और प्रेमचंद के लेखन के मध्य किसी भी सम्बन्ध सूत्र से इनकार करें। लंदन जैसे महानगर में कुछ युवकों के अकेलेपन के मूल में कोई आध्यात्मिक या आनटोलोजिकल कारण न होकर रंगभेद का 'स्थूल' राजनीतिक, सामाजिक और पार्थिव कारण है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी में प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने वालों में सब से अधिक योगदान फणीश्वरनाथ रेणु का है जिन्होंने अपनी कहानियों में परिवर्तित परिवेश में मानवीय सम्बन्धों के यथार्थ को वस्तुपरकता और संवेदनशीलता से चित्रित किया है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि परम्परा का भागीदार होना लकीर का फकीर होना नहीं है। रेणु के सूक्ष्म विसंगति बोध और कलात्मकता का स्पर्श पाकर हिन्दी कहानी की स्वस्थ परम्परा अधिक समृद्ध हुई है। प्रेमचन्द और रेणु दोनों ने मुख्य रूप से उत्तर भारत के ग्रामों के बारे में लिखा है। परन्तु आज के गांवों का यथार्थ आजादी से पहले के गांवों से भिन्न है इसलिए विषय के प्रति रेणु और प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में भी थोड़ा परिवर्तन मिलता है। पर दोनों अपने लेखन में जन जीवन से जुड़े तथा मूक, निरीह और शोषित जनता के लिए चिंतित नजर आते हैं। प्रेमचंद की अपेक्षा रेणु की शिल्प चेतना अधिक जटिल है। परन्तु अपनी जटिल और मिश्रित शिल्प की कहानियों में भी रेणु ने प्रेमचंद की तरह ही कथा वर्णन की वस्तुपरकता और सहजता को अक्षुण्ण रखा है। और भाषा के मामले में रेणु ही प्रेमचंद के परवर्ती कथाकारों में कदाचित उनके सर्वाधिक निकट हैं। प्रेमचंद की तरह रेणु ने भी बोलचाल की चलती-फिरती भाषा की सम्भावनाओं और शक्ति को पहचानकर अपनी कहानियों की सम्प्रेषणीयता और उनके प्रभाव दोनों में वृद्धि की है। अतः यह बात बिना किसी संकोच के कही जा सकती है कि यदि प्रेमचंद की परम्परा हिन्दी कहानी की विकास यात्रा का असली मार्ग है तो प्रेमचंद के बाद इस यात्रा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पड़ाव फणीश्वरनाथ रेणु का कथा साहित्य है। □

(श्रीनगर में आयोजित प्रेमचन्द संगोष्ठी में पठित)

मुक्तिबोध की विलक्षण काव्य प्रतिभा : महत्त्वपूर्ण पक्ष

डॉ० हुकुमचंद राजपाल

मुक्तिबोध का अपने पार्टनर को कहा यह कथन आज अधिक सही प्रतीत हो रहा है कि "पार्टनर एक संग्रह प्रकाशित होने दो, हिन्दी कविता के क्षेत्र में तहलका मच जाएगा।" 'मुक्तिबोध रचनावली' के प्रकाश में आ जाने से तथा इसकी कविताओं का क्रमिक विकास में अनेक बार पाठ करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि 'चांद का मुंह टेढ़ा है' काव्य संग्रह के आधार पर जिन मान्यताओं की स्थापना समीक्षकों ने प्रस्तुत की थी, दूसरे संग्रह 'भूरी-भूरी खाक धूल' के प्रकाशित होने से वे अधूरी या अपूर्ण अथवा एकांगी प्रमाणित हो रही हैं और अब 'रचनावली' भाग-एक-दो में संकलित सभी कविताओं के निरन्तर पाठ के दौरान मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि मुक्तिबोध की कविताओं को एक पाठ में पढ़कर उनके विषय में कोई धारणा बनाना उचित न होगा। कारण इन रचनाओं में कथ्य की संश्लिष्टता एवं व्यापकता है। प्रत्येक शब्द अपने में एक मूर्त्त अथवा अमूर्त्त चित्र संजोये है, एक प्रत्यक्ष अथवा भीतरी अनुभव को आत्मसात् किए है। कवि मुक्तिबोध अपनी इस विलक्षणता से भलीभांति परिचित था, उसे अपनी रचनाओं की रचना-प्रक्रिया का पूरा बोध था और वह समझता था कि हिन्दी के पाठक को उसे समझने तथा पकड़ पाने में काफी कठिनाई होगी—फिर उसकी रचनाओं में सन्निविष्ट उसका अहं, प्रखर व्यक्तित्व (संकलपधर्मी चेतना रक्त-प्लावित स्वर), अंगारी-पीड़ा तथा मूल चेतना को परखने के लिए प्रत्यक्ष अनुभव संदर्भ को समझना जरूरी होगा। इसलिए मुक्तिबोध की काव्यमयी इस विलक्षणता की सही पहचान के लिए रचना-प्रक्रिया के विविध सोपानों, मोड़ों के साथ जीवन की उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं, संदर्भों का प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्राप्त करना होगा, जो इसका मुख्य केन्द्र रही है। इसीलिए महल, बावड़ी, टीला, तालाब, गुलाब, बबूल, कमल, सूर्य, सूरज, चांद, चांदनी, आसमान, जीवन, ज़िन्दगी, शिला, शिखा, जंगल, भीड़, पहाड़ी, आत्मा, विराट्, अखण्ड, गुरु, अनन्त महासागर, महाकराल, इत्यादि शब्द सिर्फ कोशीय अर्थ संवाहन नहीं करते वरन् कवि की व्यापक अनुभवशील संकलपधर्मी चेतना के विविध पक्षों को

उद्घाटित करते प्रतीत होते हैं। इनकी कविताओं में देवकी, कृष्ण, लक्ष्मण, युयुत्सु, कंस, वसुदेव, कुंती तथा रावण इत्यादि पात्र सिर्फ रामायणकालीन तथा महाभारतकालीन संदर्भों की पुनरावृत्ति नहीं करते हैं वरन् इनके उल्लेख से कवि जन-मानस में व्याप्त धारणाओं को आधुनिक धरातल प्रदान करता है। पाठक इनसे कवि की केन्द्रस्थ चेतना को पकड़ पाने में समर्थ हो जाता है। इसी प्रकार शिवाजी, तुलसी दास, कबीर, सूर, होरी, धनिया पात्रों का उल्लेख भी सोद्देश्य है। यही कारण है कि इनकी कविताओं को एक ही पाठ में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। इस कथन की पुष्टि इनकी ही एक कविता 'ज़माने का चेहरा' से की जा सकती है जिसमें कवि की समाजवादी चेतना का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। वह साम्राज्यवादी शक्तियों और उनका समर्थन अथवा पक्ष लेने वालों पर व्यंग्य-प्रहार करता है पर इतने से ही कविता की समीक्षा-विश्लेषण पूर्ण नहीं कही जा सकती। इसमें प्रयुक्त देशों के नाम-अमेरिका, लंदन, मलाया, पेरिस, हंगरी, फ्रांस, बर्लिन, यूरोप, सोवियत रूस, भारत, वोल्गा, एशिया, कोरिया, जर्मन, जापान, ईरान, विएतनाम, सीरिया, ईजिप्ट, अरब, शिकागो, अफ्रीका, मेक्सिको, अल्जीरिया, कैरो, दमिश्क इत्यादि से विश्व की भौगोलिक स्थिति के संदर्भ में दोनों विश्व महायुद्धों का परिचय होने पर ही कविता को समझा जा सकता है—प्रथम विश्वयुद्ध तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय विश्व के कौन-कौन देश किस-किस पक्ष में थे तथा युद्धों में किनका कितना नुकसान हुआ इन सब स्थितियों के बोध के पश्चात् ही कविता समझी जा सकती है। फिर, गुरिल्ला को वीरजन से सम्बोधित करना, नात्सी (नाज़ी) की वारदात, ब्रिटेन की शरारत, फ्रांस की गद्दारी, अमरीकी पूंजी की हरारत—के मूल संदर्भ को जानना जरूरी होगा। इतना ही नहीं; इस लम्बी कविता में कवि ने "स्तालिनग्राद एवं नात्सी" का उल्लेख अनेक प्रसंगों एवं संदर्भों में किया है। इस कविता का एक अन्य पक्ष कवि की दृष्टि में इन दोनों महायुद्धों में भारतीय स्थिति को प्रस्तुत करना भी रहा है। साम्राज्यवादी शक्ति के प्रति उसका आक्रोश तथा समाजवादी संगठनों के प्रति अभिरुचि स्पष्टतः द्रष्टव्य है—वह समझता है कि साम्राज्यवादी शक्तियां अभी पूरी तरह से समाप्त नहीं हो पाई हैं, इसलिए तृतीय विश्वयुद्ध का खतरा अभी बना हुआ है। इस प्रकार ये सारे संदर्भ, सारी स्थितियां पाठक के मस्तिष्क में रहें—तभी कविता की सही पहचान सम्भव है। इसलिए हम मुक्तिबोध की कविताओं के निरन्तर पाठ होते रहने के पक्षपाती हैं। जितना निकट से कवि अनुभव से इनको परखा, निरखा जाएगा—ये कविताएं स्वयंमेव बोलने लगेंगी। हमारा दृढ़ विश्वास है कि मुक्तिबोध अपनी कविताओं के इस व्यापक फलक से भलीभांति सचेत होने के साथ पाठकीय सीमाओं से परिचित था—इसलिए जीवित रहते उसे उचित मान नहीं मिला। उसकी रचना-प्रक्रिया का अहं पक्ष और आक्रोशी अंगारी चेतना का स्वर मूल्यांकन तक नहीं पहुंच पाया। **ब्रह्मराक्षस** सरीखी कविताएं जहां इतिहास बोध की अपेक्षा करती हैं, वहां अनेक कविताएं मूल्य-मीमांसा की सार्थक काव्यात्मक अभिव्यक्ति कही जा सकती हैं। वर्ग-चेतना, मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों की मनोवृत्ति की पहचान के साथ भारतीय जन-सामान्य की वस्तुस्थिति और सम्पूर्ण भारत का चित्र **अंधेरे में** सरीखी कविताओं में द्रष्टव्य है।

कवि की रचना-प्रक्रिया और कथ्य-प्रस्तुति को समझने में एक कठिनाई पाठकीय दृष्टि से उसके बहुज्ञानानुशासनों के शब्दावलीकेप्रयोग की है। गणित, ज्यामिति, विज्ञान, टेक्नालोजी, औषधि-विज्ञान के साथ मनोविज्ञान तथा दर्शन के इतने शब्द प्रयुक्त हैं कि बिना उनकी अर्थवत्ता एवं गहराई समझे कविता को सम्पूर्ण रूप में समझना कठिन प्रतीत होता है। वस्तुतः

मुक्तिबोध का कवि पाठक अथवा समीक्षक से एक विशिष्ट धरातल-पृष्ठभूमि की अपेक्षा रखता है। यही कारण है कि उसकी कविताएं कभी-कभी क्लिष्ट, दुरूह कहकर छोड़ दी जाती हैं। आवश्यकता परिश्रम और सही समझ की है। उदाहरणार्थ 'एक टीले और डाकू की कहानी' कविता को लिया जा सकता है। इसमें टीले का प्रयोग अनेक संदर्भों, पक्षों में किया गया है,— अधिकांश प्रसंग टीले के कवि के भीतरी संसार के परिचायक हैं जबकि दस्यु (डाकू) वे उन बाहरी शक्तियों (मठाधीशों) को मानता है जो उस पर निरन्तर अपनी आक्रामक सत्ता को टिकाए हैं, अपनी भयानक मुद्रा में हैं। वस्तुतः कवि के भीतरी और बाहरी द्वन्द्व को विशेष सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है। यथा—**नभयात्री ओ पवन/साथ तुम्हारे तो जगधात्री वर्षा है/ प्रहार हो टीले पर/तड़ित पात कर डालो ।।/इस तरह चूर्ण चट्टान हो कि अणु-अणु/भीतरी पुर्जों को तोड़कर/सूरज पर चले जाएं/अनेक कण प्राक्जिमा सेण्टारिस जा पहुंचें/अनगिनत प्रकाश-वर्ष-गतियों की यात्राएं प्राप्त हों/नये-नये अनुभव उपलब्ध हों/नव-नवीन द्रव्यों को जन्म दें/नव-नवनी ब्रह्मगोल सतत समुत्पन्न।/लाल-तड़ित धाराएं/इस तरह झकझोरें/कि हृदय-कोष-गहन में/ ज्ञान-रुधिर भर जाये।/सिहर उठे संशोधन-वेदना,/पुनःपुनः/पुनः-पुनःसंगठन वेदनार्थ,/अनवरत तेजस्वी अनवस्था,/व विकसित होता हुआ गतिशील सामंजस्य,/अनवरत असंतुलन/व विकसित होती हुई/गतिशील संगतियां/मुझको दो/टीले की देह से छुटकारा प्राप्त हो।"**

उपर्युक्त पंक्तियों की समीक्षा कवि की रचना-प्रक्रिया, अनुभवशील रचना-धर्मिता, अन्तर्विरोधी मानसिकता, रक्तप्लावित संकल्प-चेतना, भीतरी और बाहरी संघर्ष, कथ्य-प्रस्तुति और शिल्पगत नवीनता के संदर्भ (प्रसंग) में एक साथ की जा सकती है। यही कारण है कि इनकी कविताओं को कथ्य के आधार पर किसी एक निश्चित सीमित शीर्षक के अन्तर्गत विश्लेषित-समीक्षित नहीं किया जा सकता। कारण कवि की अनवरत असंतुलन में विकसित होती हुई गतिशील संगतियां हैं। अन्तर्विरोधों, असंगतियों में अनेक पाठों के अनन्तर कविता में विद्यमान विकसित गतिशील 'संगतियों-सामंजस्य' खोजा जा सकता है। लम्बी कविता में इसी कारण एक लयात्मक प्रवाह एवं संगति है, प्रत्येक काव्य-खण्ड स्वतन्त्र होते हुए अन्योन्याश्रित है, एक दूसरे का पूरक है। स्लिपों पर लिखने और फिर उन विसंगतियों, असंतुलनों (स्लिपों) में एक गति, संतुलन तथा सामंजस्य बिठलाने का प्रयास कवि की रचना-प्रक्रिया की उपलब्धि एवं वास्तविकता है। इस क्रम में कहीं-कहीं कविताओं का संश्लिष्ट व दुरूह होना स्वाभाविक है।

टीले के माध्यम से कवि ने वैयक्तिक अहंमन्यता का परिचय दिया है। वह एकसाथ लोगों की नज़र में बदमाश, तेजस्क्रिय मूर्ख, लाल, सुर्ख, असामान्य तथा अद्वितीय है—उसका विद्रोहात्मक स्वर उसे 'असाधारण शत्रु' बनाए है। वस्तुतः यह कथन कवि की रचना-प्रक्रिया और कवि-कर्म की महत्ता के सूचक हैं। समकालीन लेखकों की दृष्टि में वह 'असाधारण शत्रु' माना जाता है— इस स्थिति का मुक्तिबोध को पूरी तरह भान है। इसलिए वह टीले और हवा के पारस्परिक सम्बन्ध से अपने व्यक्तित्व एवं लेखन की भीतरी लहरों को समरूप मान अपने व्यापक ज्ञान, संवेदनशील होने का परिचय देता हुआ कहता है—'**इतने में जबर्दस्त हवा एक आती है/उसके सैकड़ों प्रवाह और प्रत्येक धारा में लाख-लाख लहरें हैं/और लहर-लहर में/ भिन्न-भिन्न/संवेदन-स्पर्श हैं/प्रत्येक स्पर्श में/प्रजागरित स्वानुभूति ज्ञान-मर्म/एक-एक मर्म में अनगिनत अंगार/सूरज के संस्कार/ऐसी है वह हवा/जिसमें सौ अग्नि-मग्न-नये पुष्प गंध है/अनेक देश-देशों का ज्वलंत् जीवनानुभूति/परिणति-शक्ति का परिवर्तःस्पन्द है।"**

"मेरे महाकाव्य के पन्ने" कविता में कवि अपनी काव्य-प्रतिभा के प्रति पूरी तरह सचेत

है तथा उसे विश्वास है कि समय पर उसके एक-एक शब्द की अंगारी चेतना को समझने का प्रयास किया जाएगा। आज जो हो रहा है, इसके प्रति जीवन में वह पूरी तरह से आश्वस्त था। तभी तो कहता है अभी मेरे काव्य के स्वर्णाक्षरों की जान-बूझकर उपेक्षा की जा रही है, क्योंकि इससे बड़े-बड़े मठाधीशों की वास्तविक स्थिति का बोध तो हो जाएगा पर उसे विश्वास है कि सही समीक्षा की तराजू पर जब भी उसकी रचनाओं को परखा जाएगा तभी ऐसी स्थिति आ जाएगी—**किंतु उसी के विरुद्ध क्रोधित जन-जीवन का नव बल आया/सभी जानते दहक रही दुनिया की लाल-लाल आंख/तब उनकी वाणी सुनकर/सहसा आपस में कोई गले मिले/···मिल गयी किसी को सहसा ज्योतिभरी पुस्तक/किसी ने नया दोस्त आजमा लिया सबके घर में आ गये सभी उनके/वे लगे देखने भविष्य की सीढ़ियां/अंगारों के दरवाजे देख उसने/ज्वालाओं की खिड़कियां···/ऐसे मर्म-बोध के वे कवि-स्वर/उन अदृश्य बिखरे-बिखरे/पन्नों में भास्कर-मेरी खोयी हुई भुलाई गयी अनगिनत नोट बुकों के भीतर/उनको संभालकर तू रख रे/वे आत्मा के भाव, गुप्तचर हैं !!"**

इस उद्धरण की अन्तिम पंक्तियां स्पष्टतः आज की स्थिति का ज्वलंत प्रमाण कही जा सकती—कवि का प्रत्येक शब्द, प्रत्येक काव्य-पंक्ति, हरेक कविता सोद्देश्य है, समस्या की गहनता की परिचायक है तथा उसकी अंगारी चेतना की संवाहक भी। कवि का पार्टनर को यह कहना है कि तहलका मच जाएगा—इस उद्धरण की अन्तिम पंक्तियों से पुष्ट हो जाता है। 'भास्कर' से कवि की अंगारी चेतना स्वयं सिद्ध है, कवि-स्वर से परिचित होने पर समीक्षक एवं पाठक उसकी अनगिनत बिखरी सामग्री को जोकि उसकी आत्मा के भाव हैं अभी तक गुप्तचर रही है, लोगों ने जानबूझकर उसके महत्त्व से आंखें फेर रखी हैं, समय आने पर सभी का सही मूल्यांकन होगा—ऐसा आत्म-विश्वास कवि का अपनी कविताओं के सम्बन्ध में तब भी था। आज कवि की वह आत्म स्वीकारोक्ति विश्वास एवं संकल्प सार्थक अभिव्यक्ति पाने लगी है। आधुनिक हिन्दी कविता के विकास में मुक्तिबोध की विलक्षणता एवं उपलब्धि के विषय में अब किसी प्रकार का संदेह नहीं रहा है।

कवि की रचना-प्रक्रिया के अनेक सोपान हैं, इन सभी से वह गुजरता है और नित नवीन अनुभवों एवं सत्यों को उद्घाटित करने का उपक्रम करता रहता है। वह व्यक्ति और समाज में इस परिवर्तनशीलता (बदलाव) को अनेक धरातलों पर देखता रहा है, इसीलिए उसे उन व्यक्तियों के परिवर्तन का संकेत देता है जो कल तक कपिला गाय थे और अब तेंदुए बन चुके थे—इस बदलाव की प्रक्रिया को वह भयानक मानता है—इसीलिए ऐसे परिवर्तनशील समाज में वह चिन्तक कवि निरन्तर (अनवरत) असंतुलन में सामंजस्य की तलाश कर रहा है—**किसको पूछें: किससे जूझें ।।वे सब अच्छे, वे सब ओछे।"** कहकर वह जहां तीक्ष्ण व्यंग्य-प्रहार करता है वहां अपनी रचनात्मक मानसिकता का परिचय भी देता है।

क्रांति, विद्रोह, संघर्ष, अंगार तथा रक्त का कवि मुक्तिबोध : रचना प्रक्रिया

मुक्तिबोध के काव्य-विकास एवं रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में संकेत रूप में हमने इनकी कविताओं में व्यक्त क्रांति, विद्रोह, संघर्ष अंगार को अनेक संदर्भों में देखा है। वह सामान्य से सामान्य स्थिति, भाव, तथ्य की प्रस्तुति में "रक्त" का संकेत अवश्य करता है। भले ही, यह 'रक्त' कहीं 'स्वर' का परिचायक होता है तो कहीं कवि की 'प्रतिबद्ध दृष्टि' का सटीक प्रतीक। इतना स्पष्ट है कि ये शब्द-प्रयोग केवल प्रयोग तक ही सीमित नहीं हैं, कवि की अनुभव दृष्टि,

व्यवहार-पक्ष, संगठनशीलता एवं संकल्पधर्मी-चेतना के सशक्त अवलम्ब आधार हैं। सम्पूर्ण काव्य-चेतना को यहीं संक्षेप में व्यक्त करना हो तो इन चार ही शब्दों में कहा जा सकता है। हालांकि ये चारों शब्द मूलतः कवि के विद्रोही प्रतिबद्ध रूप के परिचायक हैं परन्तु हमने इन्हें स्पष्ट पृथक्-पृथक् विशेष लक्ष्य से प्रस्तुत करना चाहा है। **क्रांति** और **विद्रोह** में अन्तर स्पष्ट है—**विद्रोह** वैयक्तिक धरातल पर हो सकता है पर **क्रांति** में **जन** समुदाय का सहयोग अपेक्षित है। **संघर्ष** तो मुक्तिबोध की कविता की पहचान का आधार है—आत्मा संघर्ष और बाह्य-संघर्ष। **अंगार** भी वैयक्तिक चेतना है पर संगठन से सामाजिक (समूह-मत) चेतना का रूप ग्रहण कर लेता है—रक्त को तो व्यक्ति तक सीमित किया नहीं जा सकता। 'लहूलुहान', 'रक्तप्लावित', रक्ता-क्त',···अनेक शब्द-प्रयोग **रक्त** के व्यापक संदर्भ की सूचना देते हैं। वस्तुतः इन शब्दों को मुक्तिबोध मूलतः दो रूपों में व्यक्त करता है—पहला तो इसका स्वरूप के अनुरूप प्रयोग है जिसमें वह निरन्तर सामाजिक परिवर्तन, शोषण-मुक्ति एवं समता लाने के संकल्प को व्यक्त करता है। दूसरा पक्ष इससे पृथक्-विपरीत भाव का है जिसमें वह रुके, दबे, संकुचित, शीतल, हरे, पीले इत्यादि के प्रयोग करता है यथा **उर में दबें अंगार कोमल, अंगार** (पृ० १६०) **अंगार राग** (१०८) **मृदु श्वेत क्रांति**—(पृ० १५४) **मैंने दिन का खून पोंछा था** (भूरी, पृ० १६६)—**खूनी नक्शा : संघर्ष करता हुआ तू जीवन का खींच चित्र** (पृ० २१६; भूरी,) **संघर्ष की श्वास, खींच चित्र मानव का प्राणों के रुधिर की लकीरों से** (पृ० २१८; भूरी)···**रुधिर धार की पगडण्डी** (पृ०२२०), **रक्तिम संघर्षों की घाटी के क्षितिज-तीर, पर स्तब्ध धधकता हुआ लाल अंगार** – (चन्द्र, पृ० २३७) **विद्रोह के जल रहे लाला-लाल धधकते** (पृ० १८७, भूरी—)" **हिय के विक्षोभों के खूनी फव्वारों में,/ अंगारों में/ इस दिल के भरे रिवाल्वर में बेचैनी जोर मारती है**। (पृ०९०, चांद),

मुक्तिबोध की विशिष्टता इस बात में भी है कि वे 'विद्रोह', 'क्रांति', 'रक्त' 'अंगार' तथा 'संघर्ष' को मुक्तछंद में विरचित लम्बी कविताओं के साथ सुन्दर गीतों में भी प्रस्तुत करते हैं। प्रारम्भिक गीत तो प्रकृति के सौन्दर्य और कवि की रोमानी भावस्थिति के परिचायक हैं परन्तु परवर्ती काल के गीत उनकी विकसित चिन्तन-सरणि और अनुभवशील संकल्पधर्मी रचनाशीलता की पुष्टि करते हैं। तभी वह 'मध्य-वित्त' गीत के अंत में अपने संकल्प का परिचय कराते हुए कहता है—अन्तर के पाताल-कक्ष···मेरे बल की। (रचना पृ० १७८) 'अंधेरे में' कविता में उसने 'रक्त' को व्यापक अर्थवत्ता प्रदान की है—कवि के हृदय में रक्त टपक रहा है ···आत्मा में प्रवहमान यह खून का तालाब है, इसीलिए तो मुक्तिबोध को अनुभव और संकल्प रक्तमयी स्थिति में लगते हैं—" **हृदय के थाले में रक्त का तालाब/रक्त में डूबी हैं द्युतिमान मणियां,/रुधिर से फूट रहीं लाल-लाल किरणें,/अनुभव-रक्त में डूबे हैं संकल्प,/और ये संकल्प** (पृ०२७२, चांद) "**लाल-लाल कुहरा, कुहरे में, सामने, रक्तालोक—स्नात पुरुष एक,/रहस्य साक्षात्।**" (पृ० २४७)

'मेरे मित्र, सहचर' कविता में मर्मगीत तथा कर्मगीत के साथ युद्धगीत की अवधारणा प्रस्तुत की गई। भारतीय जन-जीवन की वस्तुस्थिति में उसे जहां अंधेरे का बोध होता है वहां वह ' नये-नये संघर्षों के संकल्पों के लाल फूल/ नये-नये सत्यों के गहरे लाल-लाल फलों को अंगारों की टहनी पर अकस्मात् खिलते देखता है। इसलिए अंगारी चेतना के क्रांतिकारी कारीगर के नये अक्षरों और स्वरों का उल्लेख कर अपनी प्रतिबद्धता एवं संकल्पशक्ति का परिचय देता है। यहां 'विद्रोह', 'प्रकाश', प्रकाश के अग्नि-रत्न और विद्रोह के जल रहे लाल-लाल धधकते

अंगार हैं—यही उसकी अंगारी चेतना है और उसके काव्य का चरमोत्कर्ष। हमारा विश्वास है कि मुक्तिबोध के सम्पूर्ण काव्य-संसार को यदि किसी एक ही शब्द में आबद्ध करना हो तो 'अंगारी-चेतना' इसके लिए सर्वथा उपयुक्त शब्द या संकल्प होगा। अंगारी चेतना के अन्तर्गत 'क्रांति', 'विद्रोह', संघर्ष', 'रक्त' सभी का समावेश स्वयंमेव हो जाता है। अंगारी-चेतना सामाजिक परिवर्तन-बदलाव का मूलाधार है और कवि के मूल स्वर का परिचायक भी।

"जिन्दगी बुरादा नहीं तो बारूद बनेगी" कवि के संकल्प की पहचान करवाने वाली एक सशक्त रचना कही जा सकती है। इसमें कवि के सम्मुख अनेक प्रश्न तथा समस्याएं हैं—इससे उसकी भीतरी दुनिया और व्यापक संदर्भगत चेतना का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। पर उसकी वेदना का भीषण प्रश्न पूछने के लिए चारों ओर अग्रसर होना, भीतर के विस्फोटों से सूर्य का टूटना उसके तीक्ष्ण एवं सूक्ष्मदर्शी व्यक्तित्व की पहचान करा देते हैं। अपने वर्ग के लोगों की चाटुकारिता, स्वार्थान्धता, नपुंसकता, चेहरों पर उद्दण्ड भयानकता को गहन रूप से देखता है, और इस देखने की प्रक्रिया में उन सभी विद्वद्वर, कविवर, चिन्तकवर को साहित्य और संस्कृति का रजत शंखधर तथा सर्वोत्तम अभिरुचियों के स्वर्ण-अंकधर से सम्बोधित कर उनकी वास्तविक स्थिति का बोध कराता है। भीषण प्रश्नों, बड़ी-बड़ी धधकती मंजिलों के संकेतों से कवि अपने भीतरी सत्य एवं विद्रोही-आक्रोशी स्वर का परिचय देता है।

संग्रहों में संकलित कविताओं के अतिरिक्त रचनावली एक-दो में संकलित कविताओं की दृष्टि से मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया के अनेक ऐसे पक्ष उद्घाटित होते हैं जिनसे बहुपक्षीय विषय-संदर्भ एवं तकनीक की नवीनता स्पष्ट हो जाती है। इन कविताओं के बिना इनके काव्य-संसार का मूल्यांकन वस्तुतः एकांगी एवं सीमित होगा—समग्र रचनाओं के आधार पर ही मूल्यांकन सम्भव है। यही कारण है कि हमने उनकी काव्यचेतना एवं रचना प्रक्रिया के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करते समय रचनावली भाग एक-दो में प्रकाशित कविताओं को आधार बनाया है। सचमुच कथ्य एवं टेकनीक की विविधता, नवीनता एवं व्यापकता कवि को स्वातंत्र्य युग की काव्य-परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है। निराला के पश्चात् इतना प्रयोगधर्मी नवीन एवं व्यापक संदर्भ को आत्मसात् करने वाला कवि अन्य नहीं हैं जो इनकी समकक्षता कर पाए। भले ही, इनकी भी कुछ कविताएं सामान्य धरातल की भी हैं जिनका उल्लेख हम यथा-स्थान कर चुके हैं।

दोनों खण्डों में संकलित कविताओं (लम्बी, लघु एवं काव्यांशों सहित) की संख्या दो सौ तैंतालीस के लगभग है। अंधेरे में सबसे लम्बी एवं महत्त्वपूर्ण कविता है। इसका मूल्यांकन हम अलग से करेंगे। 'चम्बल की घाटी में', 'चकमक की चिनगारियां' तथा 'चांद का मुंह टेढ़ा-है 'आकार की दृष्टि से दूसरे नम्बर की लम्बी कविताएं हैं।' 'भविष्य धारा', 'माधव-निर्झर की झर-झर कंचन-रेखा', 'शब्दों का अर्थ जब', 'इस नगरी में', 'जिन्दगी का रास्ता', 'सांस-रंगी ऊंची लहरों में', तथा सूखे कठोर नंगे पहाड़-इत्यादि कुछ आकार एवं कथ्य-प्रस्तुति की दृष्टि से सुदीर्घ कविताएं हैं। 'तारसप्तक' में संकलित कविताएं भी आकार की दृष्टि से सामान्य हैं। रचनावली भाग एक तथा दो में संकलित कविताओं में इन तीनों संग्रहों की कविताओं के साथ कुछ पत्र-पत्रिकाओं में पूर्व प्रकाशित कविताओं को भी इनमें पुनः प्रकाशित एवं संकलित किया गया है। शेष कविताएं इनमें पहली बार प्रकाश में आई हैं। इस प्रकार ये दोनों

खंड कवि की समग्र काव्य-चेतना का सही परिचय देने में पूर्णतः सक्षम है। आकार में अत्यधिक दीर्घ एवं लघु होने पर भी इनमें कवि की टेकनीक में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है—भले ही कथ्य प्रस्तुति में कहीं-कहीं मुक्तिबोध कविता की अपेक्षा भाषण, उपदेश अथवा वक्तव्य देने लगते हैं—ऐसे प्रसंग अधिक नहीं हैं। बीस पृष्ठों के आकार में दीर्घ कविता और आठ-दस पंक्तियों की लघु कविताओं (क्षणिकाओं) में उसका अन्दाज गहरा, अनुभव प्रत्यक्ष एवं शिल्प की नवीनता कहीं भी लुप्त नहीं होती। यहां यह भी उल्लेख्य है कि इतनी विविधता के होते हुए काव्य-चेतना की पहचान की एक कसौटी बनाई जा सकती है। रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से प्रत्येक कविता अपने आपमें एक प्रयोग भी प्रतीत होती है। शब्दावली का अक्षुण्ण भण्डार, कथ्य प्रस्तुति में व्यापकता एवं नूतनता, संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के आधार पर भीतर और बाहर के संघर्ष की गहन स्थिति इनकी कविताओं की मुख्य विशेषताएं हैं। इसकी रचना-प्रक्रिया को हम विभाजन की दृष्टि से निम्न भागों में देख सकते हैं। हालांकि यह विभाजन कविता की सही समझ एवं उसके सही मूल्यांकन की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता। इनकी रचना-प्रक्रिया की विशिष्टता इस बात में है कि प्रत्येक कविता अपने में पूर्ण होती हुई अपूर्ण या अधूरी है। कविताओं में अनेक अंश-परिवर्तन होने पर भी विशेष अन्तर नहीं पड़ता, भाव और चिन्तन की प्रक्रिया अनवरत है। कुछ सामान्य स्थितियां अवश्य हैं। यथा—

१. सूत्र रूप में किसी तथ्य, पक्ष एवं समस्या को प्रस्तुत करना।
२. सूत्र की सीमित व्याख्या—स्वरूप का उद्घाटन।
३. व्याख्या में स्थिति, सन्दर्भ, पक्ष को गहराने एवं व्यापकता प्रदान करने के लिए बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों, फैन्टेसी का आधार ग्रहण करना।
४. पुनः उसी सूत्र का संकेत, संदर्भ का नया पक्ष प्रस्तुत करना।
५. वैयक्तिक धरातल—अभिरुचि, संस्कार, चेतना, दृष्टि का परिचय देना।
६. अनेक बार शीर्षक अथवा कविता के सूत्र-वाक्य की पुनरावृत्ति।
७. सम्बोधनात्मक—नाटकीय शैली।
८. पात्रों की संश्लिष्ट संरचना।
९. प्रकृति के प्रति सहज आकर्षण, क्रमिक विकास—प्रकृति-सौन्दर्य से मानव-मुक्ति (समस्या) तक की यात्रा।
१०. स्वनिष्ठ मुक्ति से मानव-मुक्ति का संकल्प।
११. क्रांति, विद्रोह, अंगार (ज्वाल) की सांकेतिक अभिव्यक्ति।
१२. वास्तव स्थिति की प्रस्तुति।
१३. कवि-चेतना एवं संकल्प-शक्ति का परिचय।
१४. संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के अनवरत असंतुलन में विकसित गतिशील संगतियों का समायोजन—क्षणों के प्रति सचेत रचना-प्रक्रिया।
१५. संश्लिष्ट रूप में समाधान, कवि-लक्ष्य अथवा निष्कर्ष का संकेत।

मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया की विलक्षणता एवं विचित्रता इस तथ्य में है कि वह इसे अपने से पृथक् नहीं मानता—यहां तक कि कवि के शारीरिक अंगों तक सराबोर है, रक्त-मांस-पेशियों से अलग रचना-प्रक्रिया को नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि इस प्रक्रिया को जब कभी किसी 'वाद' काव्यधारा के अन्तर्गत समझने-समझाने का प्रयास किया जाता है तो

इसकी व्यापकता-विविधता का अन्दाज लगाया जा सकता है, कवि-कर्म और कवि-मर्म इस प्रकार की सीमाओं का अतिक्रमण करता रहता है। हमें अनेक बार कविता-पाठ में अनुभव होता रहा है कि मुक्तिबोध की अल्पायु में समाप्ति भी उनकी रचना-प्रक्रिया की पराकाष्ठा है जो उसकी चिन्तन, अनुभव की व्यापकता थी उसे सांस नहीं लेने देती थी, कवि को निरन्तर (अनवरत-असंतुलन में गतिशील विकसित होती हुई) संगतियों में बनाए रखती थी। अनवरत असंतुलन, असाधारण असामान्य रूप ही उसकी रचना-प्रक्रिया की उपलब्धि के आधार हैं। यहां ध्यातव्य है कि मुक्तिबोध ने समीक्षा के मानदंडों को अपनी आलोचनात्मक पुस्तकों में विशेष रूप से रेखांकित करना चाहा है तथा रचना-प्रक्रिया को बिना समझे वे किसी भी कृति को अपूर्ण अथवा एकांगी मानते हैं।

काव्य-चेतना का मूल आधार

मुक्तिबोध को हम मूल्यान्वेषी कवि मानते हैं, जो जीवन के प्रत्येक पल इसकी पहचान करने को उत्सुक है। हम 'विवेक' और 'उत्सुकता' (गति) को मूल्य-संकल्प का प्राण मानते हैं तथा ऐसा लेखक लेखन तथा जीवन-समाज के प्रति अधिक सचेत होगा जिसके सम्मुख प्रत्येक स्थिति में कुछ जानने-समझने का भाव हो। मुक्तिबोध की कविता का आधार संघर्ष है—यह संघर्ष बाहरी तथा भीतरी दोनों धरातल का है और मूल्यों की सार्थकता भी इसी संघर्ष में निहित है। कवि ने जीवन में अनेक विकट परिस्थितियों को झेला, उनके सम्मुख डटे रहे, भले ही लोग समय तथा अवसर की जीप पर बैठकर सफलता की ऊंची मंजिल तक जा पहुंचे, कवि विषमताओं एवं होने वाले भयावह प्रहारों से कहीं-कहीं आशंकित तो जरूर है पर इनसे मुक्ति (छुटकारा) पाने के लिए आतुर नहीं दीखता। कवि के सम्मुख प्रत्येक कविता में भीतर अथवा बाहर के समझने जानने की चेष्टा अवश्य रही है—उसकी प्रश्नातुर स्थिति के संकेत भी मिलते हैं—कहीं-कहीं यह 'क्यों' 'क्या', 'कैसे' में आशंका, भय, सम्भावित बुरी घटना या विपरीत स्थिति का संकेत देते हैं।

प्रत्येक कवि बाहर और भीतर के संघर्ष के मध्य कुछ ऐसे सत्यों, तथ्यों को उद्घाटित करता है जो उसकी रचनाओं का मूल प्रतिपाद्य होते हैं। कविताओं में स्थूल (सपाट-बयानी) एवं सूक्ष्म धरातल पर व्यक्त इस प्रकार की धारणाएं, मान्यताएं अथवा काव्य-सिद्धान्त मूल्यों की सृष्टि करते हैं। यह मूल्य-सृष्टि एक भीतरी संसार, वैयक्तिक अभिरुचियों के आधार पर होती है तथा दूसरा बाहरी संसार उसे सामाजिक यथार्थ की ओर अग्रसर करता है। इन दोनों में भले ही विद्वान अध्ययन की दृष्टि से विभाजन करें, वस्तुतः किसी कवि का मूल्य-संसार सीमित नहीं हुआ करता, क्योंकि सृजन-प्रक्रिया अनेक मनःस्थितियों एवं संदर्भों से हो विचरती है और कवि का भीतर और बाहर अन्तर्विरोधों एवं संघर्षों से गुजरता हुआ अन्ततः एक ऐसी चेतना, दृष्टि एवं संकल्प की ओर संकेत करता है जो समस्त रचनाओं में विद्यमान रहती है। ऐसा सिर्फ सार्थक कवियों के सम्बन्ध में आवश्यक है। मुक्तिबोध नये कवियों में एक ऐसा कवि है जिसकी दृष्टि स्पष्ट एवं व्यापक है। कवि की मूल धारणा समाज केन्द्रित है और सामाजिक यथार्थ उसके 'कथ्य' की मूल चेतना है। इसीलिए उसकी चिन्ता देशवासियों के सभ्य होने की है। देश रक्षा उसकी दृष्टि में एक ऐसा चरम मूल्य है जिसके लिए व्यक्ति को बड़े से बड़ा उत्सर्ग करने में किंचित सोच नहीं करनी चाहिए। यहां यह भी उल्लेख्य है कि मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया मूलतः वैयक्तिक चेतना पर अवलम्बित है, भीतरी संघर्ष (अन्तस्संघर्ष) पर

केन्द्रित है। पर यह संघर्ष (भीतरी) अन्ततः बाहरी परिवेश (सामाजिक यथार्थ) से पूरी तरह से सम्बद्ध है। भीतरी भय, आशंका, अविश्वास वैयक्तिक सीमाओं का अतिक्रमण कर व्यापक सामाजिक संदर्भ को प्रकट करने लगता है। इसीलिए हम नये कवियों में मुक्तिबोध को एक ऐसा मूल्य-संस्थापक कवि मानते हैं जिनकी रचनाओं में मूल्यों का वैयक्तिक एवं सामाजिक धरातल विशेष महत्त्व रखता है।

मूल्यवेत्ताओं (चिन्तकों) में अर्बन मूर की अपेक्षा इनकी रचनाएं प्यू (Pugh)के मूल्य संकल्प के अधिक अनुरूप हैं। प्यू ने मूल्य विभाजन तीन रूपों में किया है—स्वनिष्ठ मूल्य (selfish values), सामाजिक मूल्य (Social values) तथा बौद्धिक मूल्य (Intellectual values) स्वनिष्ठ मूल्य तथा बौद्धिक मूल्य वैयक्तिक मूल्यों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, तथा सामाजिक मूल्य इनसे व्यापक हैं।

वस्तुतः मूल्य-चिन्तन में विचारणीय पक्ष उपयोगिता, सार्थकता अथवा महत्त्व का है। इसकी पहचान के लिए 'विवेक' को केन्द्रस्थ माना जाता है जबकि 'व्यक्ति-व्यवहार' उसके इर्द-गिर्द रहता है। और मूल्य इसी धुरी से निर्मित, व्यवहृत तथा परिवर्तित होते हैं। मूल्यों का यह चक्र देश-काल एवं परिवेश के अनुसार बदलता रहता है। हम मुक्तिबोध को मूल्यान्वेषी एवं मूल्यपोषक इसीलिए मानते हैं, क्योंकि नये कवियों में यही एक कवि है जो सदैव ज्ञानात्मक संवेदना अथवा 'संवेदनात्मक ज्ञान' की अनिवार्यता घोषित करता है तथा कविता के सृजन में तीन क्षणों को स्वीकारता है। वस्तुतः प्यू का अन्तिम पक्ष बौद्धिक मूल्यों से सम्बन्धित इसी 'ज्ञान' बौद्धिक पक्ष का परिचायक है। कवि इसी के आधार पर लोगों को सचेत-जागरूक होने की बात कहता है और ऐसी स्थितियों की सांकेतिक अभिव्यक्ति करता है जिनसे उसका निजी अनुभव अथवा लोक मानस में व्याप्त धारणा रहती है। आद्य बिम्बों, मिथकों एवं फैंटसी के सृजन में अनेकऐसी स्थितियां व्याप्त हैं। मूल्य चिंतन या सकंल्प में 'समझ' एवं सार्थक की पहचान आवश्यक है। मुक्तिबोध की अनेक कविताएं उसकी निजता, वैयक्तिक मनःस्थिति की परिचायक हैं।

उसे कई बार लगता है कि स्वार्थान्ध एवं आपाधापी के युग में वह सबसे पिछड़ गया है, लोग स्वार्थपूर्ति के लिए बड़े से बड़ा मूल्य त्यागने को तत्पर हैं। स्थिति का चरम रूप तो तब आता है जब लोग अपने तुच्छ स्वार्थ की तुष्टि के लिए देश-रक्षा के मूल्य को नकारने लगते हैं। कवि जीवन की सार्थकता के लिए सदैव सामाजिक दायित्व का निर्वाह करता है। वह अनेक बार स्वयं को पराजित, तिरस्कृत एवं दौड़ में पिछड़ा हुआ मानकर भी भीतरी संसार में अस्तित्व-बोध को उजागर करता है और अन्धेरे, निराशा की भटकन में उसे जीवन की सार्थकता का आभास होता है। इसलिए हम मुक्तिबोध को मूल्यों का समर्थ सशक्त कवि मानते हैं जिसके सम्मुख एक दृष्टि है, लोगों को अस्तित्व-बोध से परिचित कराने का दृढ़-संकल्प है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध विलक्षण काव्य-प्रतिभा के कवि हैं। उनकी रचना-प्रक्रिया बहुपक्षीय एवं विविध आयामी है। वे समीक्षक रूप में जिन मानदण्डों, मूल्यों अथवा प्रतिमानों की प्रतिष्ठा करते हैं, उन सबका व्यवहार पक्ष इनकी कविताओं में द्रष्टव्य है। हमारा विश्वास है कि रचनावली के प्रकाशित होने से अब मुक्तिबोध के लेखकीय पक्ष को समग्र रूप में समझना अधिक सहज होगा, परन्तु रचना-प्रक्रिया के विलक्षण कवि-लेखक को किसी एक निबन्ध अथवा शोधपरक निबंध में दे पाना सम्भव नहीं है। मात्र

संकेत ही दिए जा सकते हैं। मुक्तिबोध की सही पहचान के लिए शोध-ग्रन्थों, स्वतन्त्र आलोचनात्मक पुस्तकों के साथ ही किसी एक मुक्तिबोधीय मासिक पत्रिका की अपेक्षा है जिसमें इसके विभिन्न पक्षों को क्रमिक रूप में प्रस्तुत किया जाता रहे—मुक्तिबोध का साहित्य अपने आप में सिद्धान्त एवं व्यवहार को एक साथ प्रस्तुत करता है। □

संदर्भ संकेत

१. मुक्तिबोध रचनावली—२, सम्पादक नेमिचन्द्र जैन (नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, १९८०) पृ० २३२-३
२. वही, पृ० २३१
३. वही, पृ० ४३८।
४. George Edwin Pugh, The Biological origin of Human values (London Roul legde and Kegan Paul 1978), p. 115
५. पठनीय : लेखक की पुस्तक : समकालीन बोध और धूमिल काव्य (दिल्ली : कोणार्क प्रकाशन, १९८०)

निवेदन

- □ प्रकाशित रचनाओं पर उपयुक्त पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।
- □ जम्मू-कश्मीर में कला, संस्कृति और साहित्य के आकलन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली सामग्री को शीराज़ा में वरीयता दी जाती है।
- □ रचनाएं कागज़ के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखकर अथवा टाईप करवा कर भेजें। कॉर्बन-कॉपी पर विचार नहीं किया जाता है।
- □ स्वीकृत अथवा विचाराधीन रचनाओं की सूचना यथासमय भेज दी जाती है। अस्वीकृत रचनाओं को लेकर किसी प्रकार का पत्राचार अपेक्षित नहीं है।
- □ 'पुस्तकें और पुस्तकें' स्तम्भ के अन्तर्गत समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियां भेजना आवश्यक है।

—सम्पादक

हिन्दी में डायरी-विधा का स्वरूप और विकास

□ डॉ० किरनसिंह

साहित्यिक संसार में आधुनिक युग गद्य-विधा की प्रधानता के कारण गद्य-युग के नाम से अभिहित होता रहा है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता आदि जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्यान्दोलनों के वावजूद, आधुनिक काल काव्य की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण है; पर यह सभी रेखांकित करते हैं कि हिन्दी-साहित्य के इस काल-पटल पर गद्य की विभिन्न शैलियों की अनेक रंग-विरंगी रेखाएं ही उपलब्धि बन उभरती रही हैं। कदाचित् इसलिए इस युग को गद्य का 'उन्नयन-काल' भी कहा जाता है। भारत में पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता के आगमन के साथ ही कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रवृत्तियां आयातित हुईं, उनमें गद्य को महत्त्व देने की भी एक प्रवृत्ति थी। अभिप्रेत यह है कि आधुनिक युग का साहित्य गद्य-विधा को केन्द्रीयता देने वाला साहित्य कहा जा सकता है। इस प्रवृत्ति का अनिवार्य प्रतिफल यह हुआ कि पश्चिमी भाषाओं के समानान्तर हिन्दी में भी निबन्ध, ललित-निबन्ध, लेख, शोध-निबन्ध, यात्रा-वृत्तान्त, साक्षात्कार, संस्मरण, रिपोर्ताज एवं डायरी जैसी अनेक नूतन गद्य विधाओं का प्रचलन हुआ। डायरी-विधा इनमें से एक महत्त्वपूर्ण गद्य विधा है।

आमतौर पर 'डायरी' शब्द दैनन्दिन अनुभवों की अभिव्यक्ति हेतु एक नोटबुक के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द रहा है। साहित्य के क्षेत्र में यह मात्र रोजनामचा का अर्थ-संवाही शब्द न होकर, दिन-प्रतिदिन के अनुभवों की अभिव्यक्ति पद्धति के रूप में स्वीकृत विधा का अर्थ-संवाही शब्द रहता है; जो साहित्यकार के निजी अनुभवों, बल्कि कहना चाहिए अन्तरंग अनुभवों का समायोजन या विनियोग करता है। वास्तव में कला की अनिवार्य सरणियों के दवाव के कारण साहित्यकार जव अपने अत्यन्त निजी अनुभवों को अभिव्यक्ति देने से रह जाते हैं, तो वे प्रायः 'डायरी' का सहारा लेते हैं ताकि उनके अनुभूति संसार का अविकल शब्दान्तरण हो सके।

भारतीय संस्कृति और देशीय परम्परा में आत्मविज्ञापन या नितान्त निजी आशा-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति को सदा से उपेक्षणीय माना जाता रहा है, इसलिए प्राचीन

साहित्यकारों के प्रामाणिक जीवन सन्दर्भ प्राप्त ही नहीं होते। हिन्दी के पुराने साहित्यकारों का व्यक्तित्व स्वयं अपनी ओर से अप्रकाशित तथा अप्रकट ही है। निस्पृहता और आत्मगोपन की प्रवृत्ति हमारे यहां परम्परा से विद्यमान रही है। १७वीं शताब्दी में इंग्लैंड में डायरी की प्रथा प्रचलित हो गयी थी। भारत में मुसलमानी शासन-काल में लिखी गई बहियों और रोज-नामचों में डायरी लिखने की प्रवृत्ति का पूर्ण रूप दिखाई देता है। अतः यह कहा जा सकता है कि मध्यकाल में डायरी से मिलती-जुलती चीज लिखने की परम्परा किसी-न-किसी रूप में थी। आज जिस रूप में डायरी-विधा प्रचलित है अथवा उसका जो भी साहित्यिक प्रारूप आज मिलता है, उस रूप में डायरी लिखने का प्रचलन अपने यहां आधुनिक युग के पूर्व न था। सर्व प्रथम डायरी-लिखने की प्रवृत्ति हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के आगमन के बाद ही दिखाई देती है।

डायरी का नामकरण एवं परिभाषा

डायरी शब्द 'लैटिन' के 'डाइस' शब्द से निःसृत है जो संस्कृत के 'दिवस' का समानार्थक है। डायरी में प्रतिदिन के हिसाब-किताब कार्य और घटनाओं का लेखा-जोखा क्रमबद्ध तरीके से रखा जाता है। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि 'डायरी' एक तरह से प्रतिदिन के अनुभवों का, क्रियाकलापों, भावनाओं, विचारों, घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करने वाली दस्ता-वेजी-कृति है। अब यह स्पष्ट हो जाता है कि डायरी एक अत्यन्त व्यक्तिगत और नितान्त गोप-नीय कृति है जो स्वयं लेखक की निजी वस्तु हुआ करती है। साहित्य और साहित्यकार के मध्य जो सम्बन्ध है उसकी व्याख्या की दृष्टि से साहित्य के क्षेत्र में डायरियों के प्रकाशन के महत्त्व को सरलता से आंका जा सकता है।

इस विधा अर्थात् डायरी-विधा के लिए 'डायरी' नाम ही रूढ़ है। इसके कुछ अन्य नाम भी समय-समय पर प्रयुक्त होते रहे हैं। डायरी में प्रतिदिन के कार्य-कलापों की अधिकता के कारण दैनिकी, 'दैनन्दिनी', 'रोजनामचा', 'रोजानिशी' आदि नाम दिये गए हैं, पर डायरी नाम ही इस विधा के लिए सर्वाधिक प्रचलित हुआ। दैनिकी और दैनन्दिनी अपेक्षाकृत कम। आज भी डायरी नाम से ही इस विधा को जाना जाता है। डायरी का सन्दर्भ आने पर 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में 'डायरी को लेखक के व्यक्तित्व की खुली पुस्तक' कहा गया है। डायरी के क्षेत्र में केवल दिन-प्रतिदिन की अंकित घटनाएं ही नहीं आतीं, अपितु कलाकारों या साहित्यकारों द्वारा समय-समय पर टीपों के रूप में अंकित विचार भी आते हैं। साहित्यिक, राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि अनेक क्षेत्रों के लोगों द्वारा 'मैं' शैली में लिखे गये उनके व्यक्तिगत अनुभवों पर आधृत विचार 'डायरी' के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार वे सभी घट-नाएं जो लेखक को वैयक्तिक स्तर पर प्रभावित करती हैं, उनका समावेश डायरी-लेखक अपनी 'दैनिकी' में करता है। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने स्वयं अपनी प्रकाशित डायरी में 'डायरी के लिए लेखक की 'नितान्त वैयक्तिकता' को सर्वाधिक महत्त्व दिया है।' वैयक्तिकता का समावेश होने के कारण डायरी, लेखक की पहचान का सबसे विश्वसनीय साधन बनती है।

इस प्रकार डायरी का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है पर साहित्य के संसार में प्रमुखता साहित्यिक डायरी को ही दी जाती है। वर्तमान समय में डायरी को एक शिल्प के रूप में अपनाने की प्रथा चल निकली है, जिसमें ललित-निबन्ध के समान रचनाकार अपने आन्तरिक

जीवन में निहित चिन्तन और भावपूर्ण मानसिकताओं को अभिव्यक्ति देने में सफलता प्राप्त करता है। आत्मव्यंजना के दूसरे जितने भी औजार हैं उनमें डायरी अन्यतम है। डायरी की विशेषता दुराव से परे स्वयं को स्वयं के सामने प्रस्तुत करना है। किसी सृजनचेता कलाकार का 'सच' डायरी के माध्यम से प्रस्तुत होता है तो उसकी मूल्यवत्ता बढ़ जाती है। यही डायरी की 'आत्मगत-मार्मिकता' है और इसीसे आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में डायरी का विशिष्ट महत्त्व दिखाई देता है। साहित्य का प्रेरक तत्त्व क्या है? किन बिन्दुओं से अथवा किन मूल प्रतिभागत अनुरोधों से इसकी अपरिहार्य अभिव्यक्ति को जीने के लिए रचनाकार या कवि बाध्य होता है? रचना का उत्स प्रतिभा है अथवा परिवेश? रचनाकार परतन्त्र है या स्वतन्त्र, रचना समाज की किन बुनियादी चीजों से जुड़ी है जैसे प्रश्न साहित्य के साथ ही आलोचना की दुनिया में अरसे से मथते आ रहे हैं। इन प्रश्नों का उत्तर यदि रचना से प्राप्त करने की कोई उपयोगिता है तो 'डायरी-विधा' इस मामले में साहित्य की मदद कर सकने में सक्षम है। समकालीन तथा प्राचीन साहित्य की बहुत-सी गुत्थियों को सुलझाने में डायरी विशेष सहायक सिद्ध होती है। वैयक्तिकता, निजता, विश्वसनीयता, गोपनीयता, मानसिक उधेड़बुन को अभिव्यक्ति देने वाली यह एक मात्र विधा है। डायरी के तहत डायरीकार अपने को अपने ही दर्पण में प्रत्यक्ष देखने की कोशिश करता है। डायरी का महत्त्व तब और बढ़ जाता है जब इसका लेखक अपने युग का महत्त्वपूर्ण व्यक्ति या साहित्यकार होता है और उसकी डायरी से साहित्य और जीवन की बहुत-सी दुर्लभ सूचनाएं प्रकाश में आती हैं।

डायरी-विधा का विकास

सर्वप्रथम डायरी लिखने की प्रवृत्ति का आरम्भ हिन्दी और भारतीय भाषाओं में पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के आगमन के बाद ही माना जाता है। भारत में इस विधा का आगमन १९वीं शताब्दी में ही हुआ। भारतेन्दु युग के प्रख्यात लेखक 'राधाचरण गोस्वामी' की दिनचर्या का संकलन (जिसका मुद्रण समय १८८५ है) सर्वप्रथम मिलता है। इस तरह अन्य गद्य-विधाओं के समान डायरी-विधा को विधिवत् हिन्दी साहित्य के इतिहास में पुरस्कृत करने का श्रेय भारतेन्दु-युग को ही जाता है। २०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'सत्यदेव-परिव्राजक' की 'मानसरोवर यात्रा की डायरी' (१९१५) मिलती है जिसमें यात्रा-विवरण के साथ ही डायरी की अन्य तमाम विशेषताओं का भी समायोजन हुआ है। सर्वप्रथम यही कृति व्यवस्थित रूप में लिखी हुई प्रकाश में आई है इसके बाद एक लम्बे समय तक किसी भी साहित्यिक डायरी के उपलब्ध न होने से इस विधा की पहचान स्पष्ट नहीं हो पाती; फिर भी यह उल्लेखनीय है कि डायरी का विधा के रूप में प्रतिष्ठापन हिन्दी गद्य-साहित्य में आधुनिकता के समावेश के साथ हुआ। इसका एक कारण यह भी था कि भारतीय साहित्यकारों के संस्कार में आत्मपरक साहित्य लिखने की प्रवृत्ति कम रही है, जैसे-जैसे लेखक आधुनिकता में दीक्षित होते गये इस विधा का ठोस रूप अपनी पहचान बनाने में प्रवृत्त होता गया है।

गांधी जी ने भारतीय साहित्य और राजनैतिक समाज में डायरी लेखन की प्रवृत्ति को एक रुझान बनाया। गांधी जी डायरी को आत्म-विश्लेषण का एक जरिया मानते थे। गान्धी जी की डायरी मूल रूप से गुजराती में लिखी गयी है जो १९१७ से १९४८ तक निरन्तर मनुबेन गान्धी द्वारा हस्ताक्षर सहित लिखी जाती रही। इसका अनूदित रूप हिन्दी में 'एकला चलो रे', 'कलकत्ते का चमत्कार', 'बिहार की कौमी आग में', और दिल्ली डायरी है। गान्धी

जी के ही समकालीन महादेव भाई, जमना लाल बजाज, घनश्यामदास बिड़ला, सीताराम सेक्सरिया आदि ने डायरियां लिखी हैं साथ ही सद्यः प्रकाशित राजनैतिक डायरियों में, जयप्रकाश जी की जेल डायरी, चन्द्रशेखर की जेल डायरी तथा हिमाचल प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री शान्ता कुमार की 'एक मुख्यमन्त्री की डायरी' उल्लेखनीय हैं। इन डायरियों में तत्कालीन समाज और राजनीतिक दांव-पेच का विस्तार से वर्णन मिलता है।

आधुनिक युग में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'मेरी कालिज डायरी' (१९५८) लिखना आरम्भ किया तो यह मान्यता है कि डायरी-विधा का विधिवत् श्रीगणेश हुआ। इसका प्रकाशन काल भी १९५८ ही है। जबकि सुन्दरलाल त्रिपाठी की 'दैनन्दिनी' (१९४५) में प्रकाशित हो चुकी थी। ऐसा लगता है कि हिन्दी में साहित्यिक डायरियों का दौर, कम से कम प्रकाशन के अस्तित्व में, लगभग आजादी मिलने के आसपास ही अस्तित्व में आया। इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी गद्य के विकास के लगभग साम्प्रतिक दौर में ही डायरी लिखने अर्थात् इस विधा को व्यापकत्व मिला। डायरी लिखने की परम्परा यों भी आधुनिक समाज की देन है। जब से आलोचना में रचना और रचनाकार को परिवेश मूल्यांकन या अर्थ ग्रहण के लिए प्रतियोगी तत्त्व माना जाने लगा; तबसे इस विधा का रूप खुलकर सामने आया है। हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण प्रकाशित डायरियों में दैनन्दिनी ! सुन्दरलाल त्रिपाठी (१९४५), मेरी कालिज डायरी : धीरेन्द्र वर्मा (१९५८), अंकित होने दो : अजित कुमार (१९६२), डायरी के नीरस पृष्ठ ! इलाचन्द्र जोशी (१९६७), एक साहित्यिक की डायरी ! मुक्तिबोध (१९६४), प्रवास की डायरी : हरिवंशराय बच्चन (१९७१), दिल्ली मेरा परदेश : रघुवीर सहाय (१९७१), दिनकर की डायरी : रामधारी सिंह दिनकर (१९७३), सैलानी की डायरी : राजेन्द्र अवस्थी (१९७७) उल्लेखनीय हैं। डायरी का कथा एवं उपन्यास लेखन में भी शैली रूप में प्रयोग किया जाने लगा। उपन्यासों में पात्रों की डायरियों को दिखाकर उनकी चारित्रिक विशिष्टता एवं कमी को विशेष तौर पर उजागर किया जाता है। शैली रूप में प्रयोग कर जो उपन्यास लिखे गये उनमें 'अजय की डायरी' : डॉ० देवराज, 'शह और मात' : राजेन्द्र यादव, जय वर्द्धन : जैनेन्द्र, 'पीले गुलाब की आत्मा' : विश्वम्भर मानव, 'मकान' : श्री लाल शुक्ल आदि के प्रमुख हैं साथ ही 'नदी के द्वीप' : अज्ञेय, अपने-अपने अजनबी : अज्ञेय, 'बीज' : अमृतराय तथा 'द्वाभा' प्रभाकर माचवे आदि भी ध्यानाकर्षित करते हैं। सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर व्यंग्यपूर्ण कटाक्ष के लिए भी डायरी शैली अनुकूल सिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों में, 'डायरी का खेल' : निर्मल वर्मा, 'एक सेन्टिमेन्टल डायरी की मौत' : सुधा अरोड़ा, 'डायरी में कैद जुलूस' मधुरेश आदि कहानियों में डायरी शैली के प्रयोग का सार्थक उदाहरण मिलता है।

डायरी-विधा को व्यापकत्व देने में हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं ने भी विशेष योगदान दिया है। जिन पत्रिकाओं ने इसे सुप्रचारित करने में सहायता दी है उनमें हंस, नया साहित्य, नई-धारा, लहर, प्रतीक, ज्ञानोदय, कल्पना, माध्यम, धर्मयुग, सारिका और दैनिक पत्र 'आज' प्रमुख हैं। १९५७ से १९६७ तक अर्थात् एक लम्बे समय तक 'आज' के साप्ताहिक अंकों में 'मनबोध मास्टर की डायरी' (डॉ० विवेकी राय) प्रकाशित होती रही यह कालान्तर में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई है। इस शीर्षक के तहत सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं ग्रामीण समाज में व्याप्त कुप्रथा, भ्रष्टाचार, बेईमानी, चोरी एवं ग्रामीणजनों की दयनीय स्थिति का बड़ा ही खुलासा वर्णन किया गया है।

हिन्दी में डायरी-विधा का वर्तमान स्वरूप अन्य विधाओं के समानान्तर शक्तिशाली विधा के रूप में उभरा है। गद्य और पद्य दोनों ही विधाओं का स्वाद आधुनिक डायरी-लेखकों के डायरी-साहित्य में पाया जा सकता है। एक स्वतन्त्र कला-विधा के रूप में जीवन और उसके मूल्यों की व्याख्या करने में इसने अपनी योग्यता को भी प्रमाणित कर दिया है। डायरी के पन्नों पर जीवन और उसके मर्म की मोहक अभिव्यक्तियों का स्वरूप देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि इस विधा में अन्य विधाओं के समान साहित्य का मूला-तत्त्व किसी भी प्रकार कमतर है। डायरी में एक साथ ही रचना, आलोचना, व्यंग्य-विनोद, यात्रा-राजनीति, समाज चिंतन और जीवन के वैविध्यपूर्ण सरोकारों का एक अनौपचारिक संसार विद्यमान होता है। डायरी विधा की यही अनौपचारिकता उसे अन्य विधाओं की अपेक्षा आत्मीय साहित्यिक आस्वाद प्रदान करती है जो दूसरी विधाओं में शायद कम ही है।

इस प्रकार हिन्दी की डायरियों का व्यवस्थित संसार हिन्दी-साहित्य संसार में लगातार अपनी पहचान बनाने में सफलता हासिल कर चुका है। डायरी-विधा आरम्भ में पाठकों एवं आलोचकों दोनों के लिए एक 'हाशिए की विधा' मात्र थी, जो धीरे-धीरे अपनी स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण जमीन हासिल करती आयी है। ठोस होती हुई इस विधा ने यह प्रमाणित कर दिया है कि इसके माध्यम से भी साहित्य के मूल को विशिष्ट कलात्मक आकृति प्रदान की जा सकती है। □

कविताएं

एकाकी हंस का मौन संगीत

[सरोद पर उस्ताद अमजद अली खां द्वारा बजाए 'हंस ध्वनि' राग से प्रेरित]

□ बच्चन

"हंसा,
तुम गुम-सुम अकेले सलिल-तल पर बैठे हो
जबकि सुना है
कि तुम्हारा कुटुम्ब कोई छोटा नहीं,
जल-पाखियों का परिवार भी काफ़ी बड़ा है,
और विहगावलियों से तो आसमान भरा है,
क्या किसी में कोई तुम्हें अपने-सा नहीं मिला ?
अपने को अपनों में पा
तुम्हारा मन-सुमन नहीं खिला ?

और हमने तुम्हें जब देखा
चुप साधे ही देखा
जबकि तुम्हारे गायन की प्रशंसा
देवताओं-पुराणों ने की है,
तुम्हारे गीतों की प्रतिध्वनियां
कवि-पंक्तियों से उठी हैं,
और गायकों के कंठ, और वादकों के यंत्र
धन्य हुए हैं
जब उन पर हंस-ध्वनि रागिनी उतरी है।"

"प्रकृति में अकेलापन
हर सत्ता का अभिशाप है;

उसने तृण से लेकर तरणि तक जो बनाया
एक को दूजे-सा नहीं बनाया;
ऐसी उसकी सृजन-सामग्री की समृद्धि है,
ऐसा उसके सृजन-कौशल का प्रताप है !
साथ ही,
इसे अभिशाप कहूं या वरदान,
उसने सब में अपने-सा पाने की प्यास भर दी है,
तृप्ति को कठिन साधना वर दी है।

इसी कठिन साधना का फल है
कि मैं अकेला होकर बहुतों के साथ हूं
बहुतों के सुख-दुख के,
बहुतों के अवसाद-उल्लास के,
बहुतों के जीवन के;
मेरे चारों ओर बहुतों के मन मेले हैं।

जिन्होंने बिना श्रम-तप-साधना
ऐसा संग-साथ चाहा,
जो उतावले भीड़ में जा खड़े हुए,
उनसे जाकर पूछो, वे कितने अकेले हैं !

और मुझे मौन
कहने वाला कौन ?

गन्धर्वराज ने मुझे अपनाया है,
मुझे गाना सिखाया है,
वीणा-वर-दंड-मंडित-करा सरस्वती-भगवती ने
मुझे अपना वाहन बनाया है,
हां, मैंने अपने पूरेपन, पूरे मन से गाया है,
गायन मेरे रोम-रोम में समाया है,
गीत मेरी सांसों में सो गया है,
राग मुझमें साकार हो गया है,
राग मेरी काया है,
रागिनी मेरी छाया है;
मेरे गीत-अगीत ने
देवताओं का मन बहलाया है,
कवियों का घाव सहलाया है,
गायकों का स्वर सजाया है।

मेरा मुखर मौन कोई राज़ नहीं है;
तुमने नहीं सुना ?—
'राग जहां पर तीव्र अधिकतम है उसमें आवाज़ नहीं है।'
तुमने सुना नहीं ?—
सुना राग मधुर होता है, पर अनसुना राग—
अनहदनाद मधुरतर,
'हर्ड मैलोडीज़ आर स्वीट, बट दोज़ अनहर्ड आर स्वीटर'।

□

आस्था का अकेलापन

☐ अशोक कुमार

ओ पिता !
तुम्हारी आस्था
मैं वहन नहीं कर पाया
और अकेला हो गया
जैसे
बाढ़ में घिरा हुआ मंदिर

अब जबकि
मुझे संबल चाहिए
और तुम नहीं हो—

कैसी विडम्बना है—
गत वैभव पर
गर्व तो कर सकता हूं
पर न वैभव हो पाता हूं
न आस्था

जुगुप्सा और
भयावह
अंधड़ों के घेरे में
यह कैसा भविष्य है ?
पशुओं के मुंह से
जुगाली सा टपकता हूं
मौसमों के अनिर्णायक
संघर्ष में
मेरी आंतरिकता और
व्यक्तित्व का जोड़
मात्र घास की
निरीह पत्ती···! ☐

प्रसव में मां

□ बलदेव वंशी

तेरे आने की कल्पना-मात्र से ही
द्रवित हो आते हैं
तह दर तह जमे सदियों पुराने पहाड़

स्पर्श-मात्र से
दौड़ पड़ती हैं दूध की नदियां
और भर जाते हैं मेरे स्तन

किलकारी की प्रथम किलक से
फूट पड़ते हैं झरने
स्फुरणों और रोमांचों के

तेरी पहली झलक से
रंग जाती है धरती
महकते फूलों के अंबारों से

तुमने, उसी क्षण
पीड़ा में पहचान पायी थी
ऐ मेरे बेटे
जब मैं कुक्षि में घूमती
सम्पूर्ण सृष्टि को लेकर
कितनी धैर्यवान हुई
कि पीड़ाओं के पर्वत पचा गई

धरती में उस क्षण

अपूर्व हलचल मची थी—
जब एक कोंपल
अंधेरे से उजाले की दूरी तय करती
छटपटा रही थी

दरअसल यह धरती
उसी क्षण जवान हुई थी
कोख में बीज पड़ते ही
कि दिशाओं के दूत
लक्ष-अलक्ष लोकों में संदेशा पहुंचा आये

ओ मेरी मां !
अपनी और मेरी तरह
प्रत्येक धरती को
प्रसव की पुलकों से नहलाना
किसी भी धरती को
कभी भूल कर भी
बांझ मत बनाना

□

दो कविताएं

बदला पतीला

□ पृथ्वीनाथ मधुप

उजली/सिलेटी
काली होती जाती
रोशनी/कमरे की

मैं,
खटिया,
तिपाई पर बिखरे
पत्ते—/गोलियों के
दवा की शीशियां···

[चिता की/आखिरी
सुलगती लकड़ी से
उठता धुआं
आवाजें/यहां···वहां···
···हू···हू···हुआं···हुआं···] :
'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'

नहीं, नहीं, नहीं,
नहीं उखड़ेगी बाड़
सींचना
फूलना-फलना
देखना···
□
मिट रही—
उमस/अन्धेरा···

बदला पतीला
गति पा रहा
स्थिर लटका/पंखा
भरता जा रहा
दूधिया रोशनी से/कमरा,
'शक्तियोस्ति जगत्सर्वं
शक्तिमान स महेश्वरः'

□

कैसे सुधरेगा मौसम

कैसे—
सुधरेगा मौसम ?
भगेगी
कड़ाके की/धूप ?
पलकों पर खिले
हरियाली के सपने
कैसे पायेंगे—
रूप ?

चोटी पर जमी
बेदर्दी···
बौना गया सोच
पोच बरखा

शून्य हो गया-/रोपण
तेज़/कुल्हाड़ी।

□□

खुद के खिलाफ़

□ महाराज सन्तोषी

अन्धेरे में
कठघरे-सी किसी जगह पर
खुद के खिलाफ़ बोलने लगा हूं !
—नहीं जानता
मेरे सामने बैठा जो समुदाय है
अपराधी का कौन-सा अंक
मुझे घोषित करेगा !
फिलहाल स्वयं को
किसी बोगस रसीद-सा
रद्द करते हुए
मैं खुद के खिलाफ़ बोलने लगा हूं !

क्या आप जानते हैं ?
चेतना फूल भी होती है
कि आप प्रतिपल;
सुगंधों से प्रभावित
अनुभव ही नहीं कर पाते
निकट की सड़ांध !
लेकिन मेरे लिए चेतना
किसी क्रुद्ध घुड़सवार की चाबुक-सी
बरस पड़ी यूं कि मैं,
एक ऐसे दर्द से कराह उठा
जिसका रूपांतरण
सही शब्दों में अब तक न हो सका !

मैं चाहता था
उसी सहजता से
चीज़ों को बदलना
जिस तरह
दुल्हन की हथेली पर
कोई स्त्री रच लेती है
मेंहदी से कोई फूल
अथवा नन्हा सा दायरा कोई !
दरअसल जितना सरल होता है
बचपन में पकड़ लेना
छातियां अपनी मां की
ठीक उसी सहजता से
मैं चाहता था
चीज़ों को बदलना !

मैं चाहता था जबकि
नदी में बाढ़
नदी धीरे-धीरे सूखती गई
मैं चाहता था जबकि
नज़र के सामने रहें पहाड़
आंखों में मिमियाती रहीं बकरियां !
मैं चाहता था जबकि
शेर के पंजे-सी तेज़ कविता
न हो सकी कविता—

किसी बूढ़े मरीज की
झुंझलाहट से ज़्यादा !

अक्सर किसी शरारती लड़के की तरह
जो हाथों में मरा हुआ सांप लिये
घुमाता है उसे चारों ओर
साथियों को डराने के लिए
क्या मैं भी अपनी कविताओं से
फैलाना चाहता था भय ?
सुनो, मेरे सामने जो बैठा समुदाय है
मैं तुम सब से सम्बोधित हूं
तुम्हारे ही लिए थीं मेरी कविताएं
लेकिन तुम्हारे लिए
मेरी कविताओं से ज़्यादा
सुखकर था
किसी मंत्री के साथ चाय पी लेना !

टुकड़ों-टुकड़ों में बंटा मौसम
नहीं मालूम सामने जब मेरे गिरा
तो क्यों नहीं मरा ?
— बेहतर नहीं कि हर वक्त
सुनते रहना—मौसम का कराहना !
और कराहते हुए मौसम में
गाते हुए अपने हम असरों के लिए
मेरे पास केवल एक उपमा बची है
सुनो, उसे तुम भी सुनो :
मुझे लगता है
जैसे यातना शिविर के द्वार पर
मनोरंजन के लिए
कुछ गायकों की व्यवस्था की गई हो !

सुनो, ऐ कंठ के जादूगरो !
मरते हुए समूह के लिए
बेशक तुम कुछ भी कहो
किन्तु गीत मत गाना !
जिनकी जीवन लय
टूट चुकी हो और स्वप्न—
सियाही पुते कागज़ों-से हो गए हों
निरर्थक !
उनके लिए तुम्हारे गीत ?
नहीं जानता रे !
जलते हुए वन में
कोयल भी कू-कू नहीं करती !

सुनो, मेरे सामने जो बैठा समुदाय है
मैं सच बताता हूं
मेरा अपराध यह है
मैं जरूरतमंद लोगों के बीच
शब्दों के पटाखे बांटता रहा
और महसूसता रहा उस चिड़िया-सा
जो कोठार से दाना चुरा-चुरा कर
भूल जाती है मौसम तक !

मैं उस चोर चिड़िया से दूर
शब्दों की ध्वनियां मिटाते हुए
अपनी कविता की पटरियों के बीच
अंतिम रूप से मरना चाहता हूं
और मरते-मरते
स्मरण करना चाहता हूं
उस घोड़े को
जो तोड़ अस्तबल का दरवाजा
कुचला गया था सड़क पर
एक बेहतर ज़िन्दगी की तलाश में।

□

डोगरी कविता

एक और जन्म

□ वेद राही

पहले
मां की कोख से
मैंने जन्म लिया था
अब मुझे अपनी राख से उठना है !

अभी मुझे अपने लहू में
गर्दिश करती हुई वे ख्वाहिशें
पूरी करनी हैं, जो
मरे हुए आदमी को भी
सांस नहीं लेने देतीं,

अभी मुझे नेकियों का वह
कर्जा भी चुकाना है, जिसका ब्याज
मूल से बढ़ गया है।

मेरे नाखूनों ने
वे गांठें अभी खोलनी हैं, जो
अपने स्वात्म में
मैंने खुद ही डाली थीं।

इच्छाओं के वे झुंड
अभी मुझे तलाशने हैं, जो
दूर ऊंचे पहाड़ों पर

गुम हो गए हैं, भ्रमों की धुंध में।

उन चश्मों का पानी
अभी मुझे पीना है, जो
मेरा नाम लेकर फूटे थे।
वृक्षों की गांठों पर
फूटने वाले अंकुरों की तरह
दिव्य गीतों के
गहरे अर्थों ने अभी मुझे
रोशनी देनी है।

उस मखमली घास पर
अभी मुझे चलना है, जो मेरे पांवों के
इन्तजार में, ओस से भीगी हुई
कुनकुनी धूप की खुशामद कर रही है
कि वह उसके वजूद को
मेरे आने से पहले सोख नहीं ले,

अपने अन्दर के उस
वहशी घोड़े को अभी मैंने
काबू में करना है, जिसका वजूद
उसकी आज़ादी में ही हैं,

इस बाज़ार में आकर
अभी वह माल खरीदना है,
जिसकी सिर्फ पेशगी ही
मैंने अदा की है,

अभी वे गीत भी मुझे गाने हैं,
जिनकी धुनें तो हैं; पर
शब्द अनगढ़ ही रह गए हैं,

यह एक और जन्म है मेरा
पहले
मां की कोख से
मैंने जन्म लिया था
अब मुझे अपनी राख से उठना है।

□

एक कविता, एक गीत

धरती, चांद, सूरज और तुम

□ ज्योतीश्वर पथिक

चांद;
एक टूटा हुआ आईना है
जिसमें हमें बिखरी हुई छवि दिखाई देती है
इसलिए चांद मेरे प्यार का प्रतीक नहीं

सूर्य;
एक जलता हुआ गोला
स्वयं अपनी आग में धधक रहा है
वह मेरे सपनों का साकार नहीं

धरती;
खंडों, देशों में बटी-कटी
स्वयं अपनी करुण कथा सुना रही है

इसलिए, प्रिय सो जाओ
प्यार का मौसम नहीं
अब तो सितारों को नींद आ रही है।

□

गीत

गुम-सुम गुम-सुम
है इक रुन-झुन
यह भी इक संगीत है
इक अनगाया गीत है।

धीरे-धीरे मन की बातें
कहतीं काली-काली रातें
रिमझिम रिमझिम बरखा बरसे
सावन की यह रीत है।
इक अनगाया गीत है।

नीले-नीले गहरे नयना
कह जाते हैं जो कुछ कहना
छाई ये घनघोर घटाएं
एक अनोखा गीत है।
यह भी इक संगीत है—

फिर भी मन को रोज सताएं
मन में उभरी कुछ शंकाएं
नभ में आते-जाते बादल
बनती-मिटती प्रीत है—
इक अनगाया गीत है।

गुम-सुम गुम-सुम
है इक रुन-झुन
यह भी इक संगीत है
इक अनगाया गीत है।

□

एक गीत और चार लघु कविताएं

गीत

□ निर्मल विनोद

जेबों में हैं
केवल रिक्तियां
अपनों ही की छायाएं
बे-पहचानी बाधाएं
चुरा ले गयीं
मेरे
खाली हाथों की
उपलब्धियां।

हंस कर सारा दर्द सहा
जितना भी बन पड़ा कहा
मगर चिढ़ाती हमें
हमेशा हैं
लंगड़ी अभिव्यक्तियां।

कांधों पर पर्वत ढोते
उम्र गयी सपने बोते
लेकिन
सूरज को घेरे हैं
अन्धी-काली
आंधियां। □

आब्जेक्शन

मैंने एक बन्दूक का लाइसेंस मांगा।
उन्होंने आब्जेक्शन लगा दी—
'बन्दर के हाथ में
उस्तरा
नहीं दिया जा सकता।'

परीक्षा तो टिकटी है

औरों का बोझ उठाना
बहुत सहल है
लेकिन अपना बोझ!
उफ़, मेरे मौला!
और मत आज़माओ!
परीक्षा तो टिकटी है।
मुझे फांसी मत चढ़ाओ!

लिखा पेड़ पर

तेरे आंगन का गुलमोहर
मेरे भीतर उग आया है;
अब मैं हूं
गुलमोहर है···
···या लिखा पेड़ पर—
तेरा नाम!

इतिश्री

समय क्षिप्रगामी नदी है।
पिता!
तूने यह क्या किया?
मुझे कहा—'तैरो।'
···और गले में मेरे
बांधकर चट्टान,
तूफ़ानी धारा में छोड़ दिया।
कर्तव्य की हुई मानो इतिश्री···और
तूने मुख मोड़ लिया।

□

इच्छा की भाषा

□ ललित शुक्ल

वह आती है चुपचाप
मटमैली आभा में लिपटी
भय के ताप से डरी-डरी
यहां-वहां ताकती
झांकती अपनी छोटी-छोटी आंखों में
पंजों की आहट तक सुनी नहीं जाती है।
वह आती है।
मेरा ध्यान तोड़ती
कभी तो किताबों में डायरी के
पन्नों में
खोया-खोया मैं
वहां होता हूं केवल मैं
पर वह सहमी-सी आती
घूरती जाती
मासूमियत बांटती
मैं निर्निमेष उसे ताकता
वह फुर्र से फुदक जाती
इस कला में वह निष्णात है।
मेरा मन उखड़ जाता है।

बिजली के तारों पर नाचता
माधवी की लतर फलांगता
अपनी आराम कुर्सी पर
पुनः लौट आता है
कुछ खोया हुआ-सा हेरती
उड़नछू व्यक्तित्व सहेजती
बिना किसी आहट के
आ जाती बहुत पास
बिखरे दानों को टूंगती
सदाबहार के बैंगनी फूलों वाली डालों पर
झूलती
अनार की टहनी पहचानती
कैक्टस के गमलों को बचाती
अनफूले कचनार पर बैठ जाती है
गुलाब से बात नहीं करती
अनफूले अमरूद पर
गीत नये गाती है
मैं सब कुछ भूल जाता हूं
जनतंत्र, प्रजातंत्र
कविता कहानी और खतोकिताबत
दुनिया के धंधे
आना-जाना रातों का, दिन का
चलना थके पैरों का
लस्टम-पस्टम जीना
कटी-फटी जिन्दगी का
मसोसता है मन
यह रोज क्यों नहीं आती
स्वयं उगे कैक्टस पर बैठकर
यह बुलबुल क्यों नहीं गाती
गाती क्यों नहीं !! □

कैंसर

□ जवाहर रैणा

कभी बजे थे
ढोल बिगुल बाजे
मध्य रात्रि में
लोग बाजारों में इकट्ठे हो गए थे
कश्मीर के भांडों की तरह
अपनी कलाबाजी दिखाने को
खुले मैदान में
        एकत्रित हो गए थे
            अभिनेता ।

लंगोटधारी की पुस्तकें
शेल्फों में ठोंस
स्वांग भरते रहे अपनी वाणी में
पूछते रहे हम
यह क्या हो रहा है,
क्यों मनाए जा रहे हैं
        ये उत्सव ?
किसी ने कहा—
"वह गोरा अपने देश लौट चला"
प्रसन्नता हुई हमें कि
अपनी जीभ
हिला पाएंगे हम
ठीक तरह से

बीत चुका है
अब तक एक युग । और···।

फिर पूछा है अब
हमने
क्यों बजे थे
वह ढोल बिगुल बाजे
देता है उत्तर
कोई
"लौट चला था गोरा
अपने देश"

किन्तु—
महसूसते हैं
हम
कि—
लौट चली थी । अपने देश
केवल वह गोरी चमड़ी
उसकी जीभ
काले चिकित्सकों ने डाल दी थी
हमारे मुंह में
और—
हमें डर है
कि कहीं
कैंसर न कर दें
यह पराई जीभ
हमें ।

□

शायद कभी

□ क्षेमेन्द्र रैणा

तुम्हारे साथ के वह सारे पल
जिनको कोई आकार मिला हमसे
या
जन्म से पहले ही हो गया जिनका एबॉरशन
सारे शब्द तुम्हारे
जिनके अर्थ पर तुम्हारे और मेरे शब्दकोश
एकमत थे
या
जिन्हें पढ़ न सका 'मैं'
तुम्हारे सारे स्पर्श
जिनकी जननी का इतिहास
न मैं जानता था
और
न तुम
उस निकटता की वह सारी सुगंध
तुम सही चख रही थीं—या
कि मुझे जुकाम था ?

रख दिया है वह सारा इतिहास
टाइम केप्सूल में—सम्भालकर
अपने अन्दर—
गहरे—बहुत गहरे
अंधेरे कोने में
कभी—किसी अवकाश के पल
शायद—
मिले मुक्ति जरूरतों की दौड़ से तो
देखूं
सत्य क्या है – तब,
और तब तक मेरे मसूढ़ों में
बना चुका होगा अपना स्थान
विज़डम टुथ।

□

परिचर्चा

कहां गयीं हिन्दी की वे साहित्यिक पत्रिकाएं ?

□ श्याम किशोर

एक ज़माना था जब हिन्दी जगत् की पत्रकारिता में साहित्य का अपना स्थान था। यदि यह कहा जाये कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता ने खूब झेला, उस संग्राम को जिन्दा रखा और आज़ादी में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया तो कदापि अतिशयोक्ति न होगी। साथ ही यह भी कि हिन्दी के जिस प्रासाद पर हम खड़े हैं इसे स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी पत्रकारिता ने ही बनाया तो भी अतिशयोक्ति न होगी। लेकिन क्रमशः भारतीय संस्कृति की तरह हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाएं भी ह्रासोन्मुखी होती चली गयीं। मौजूदा हाल यह है कि सेक्स, रोमांस, मारधाड़, राजनीतिक पैंतरेबाजी, फिल्मी कॉलम और हत्या की नृशंस घटनाओं के चटखारेदार वर्णनों से आद्योपान्त भरी पत्रिकाएं ही चारों ओर नजर आती हैं तो सवाल यह उठता है कि हिन्दी साहित्य का जो प्रासाद उन साहित्यिक पत्रिकाओं की विरासत में हमारे सामने है, क्या वह गगनचुम्बी हो सकेगा ? वे पत्रिकाएं अब क्यों नहीं हैं ? क्या सचमुच उनकी आवश्यकता खत्म हो गयी ? या कि आधुनिकता की दौड़ में आज की पत्रिकाओं ने उन्हें इतना पछाड़ दिया कि किसी को वे याद भी नहीं आतीं ? क्या सचमुच ?

इन सवालों के बेबाक जवाब कुछ सम्पादकों की कलम से प्रस्तुत हैं—

सेठाश्रयी पत्रिकाएं और गुटबन्दी का शिकार…

□ **निशीथ कुमार राय**, भूतपूर्व सम्पादक 'सरस्वती', इलाहाबाद

हिन्दीभाषी पाठक-पाठिकाओं में हिन्दी एवं अहिन्दी भाषियों के प्रश्न को लेकर वाद-विवाद करने में जितना आग्रह है, उसका शतांश भी स्तरीय साहित्यिक पत्रिकाओं का समर्थन करने में नहीं है। हिन्दी की अपेक्षा बंगला बहुत कम लोग बोलते-पढ़ते हैं लेकिन बंगला पुस्तक के बीस-पच्चीस संस्करण (सो भी दस-दस हजार प्रति संस्करण) हो जाना सामान्य बात है। इसका

मुख्य कारण बंगला के प्रति बंगलाभाषियों का वास्तविक लगाव है।

एक रुपया प्रति अंक, प्रति माह में **'सरस्वती'** जैसी पत्रिका हिन्दी के प्रमुख लेखकों, कहानीकारों और निष्णात विद्वानों का रचना-संसार प्रस्तुत कर रही थी। लेकिन इस अभागिन पत्रिका को जीवित रखने के लिए हिन्दी प्रेमियों को एक रुपया भी महंगा प्रतीत हुआ। 'सरस्वती' को अकाल मृत्यु का वरण करना पड़ा। अहिन्दीभाषी ने इस पत्रिका को जन्म देकर डॉ० श्याम सुन्दर दास, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी सरीखे विद्वानों द्वारा आधुनिक हिन्दी का निर्माण किया। जब तक संभव हो सका (करीब ८० वर्ष) अपार क्षति सहकर भी इसे जिलाये रहे—परन्तु जब उनके उत्तराधिकारियों में बंटवारा हुआ तो इस घाटे के सौदे को कौन लेता? परिणामतः १९७५ में 'सरस्वती' की अकाल मृत्यु। हिन्दी वालों का यह कलंक दुरुपमेय है।

मेरे कहने-सुनने पर इसका पुनर्प्रकाशन आरम्भ हुआ और १९७५ से लेकर १९८० तक लगातार घाटे में ही सही इसका प्रकाशन जारी रहा। मैंने इसका सम्पादन किया। विभिन्न हिन्दीभाषी प्रान्तों के शासनकर्त्ताओं से मैंने आग्रह किया, बारंबार पत्र लिखे कि स्नातकोत्तर महाविद्यालयों के पुस्तकागारों में इसे स्थान दिया जाये, लेकिन किसी ने कुछ नहीं सुना। कई बार याद दिलाने पर उत्तर प्रदेश के एक मुख्यमंत्री ने आश्वस्त किया—लेकिन वह कोरा आश्वासन निकला। केवल मध्य-प्रदेश शासन ने 'सरस्वती' को स्नातकोत्तर महाविद्यालयों के लिए अनिवार्य घोषित किया था। आज 'सरस्वती' जिन्दा नहीं है, लेकिन मध्यप्रदेश के हिन्दी प्रेम को सराहता हूं मैं।

उर्दू एक समृद्ध भाषा है गोकि इसे मैं हिन्दी की ही बोली मानता हूं राजनैतिक कारणों से इसे आवश्यकता से अधिक मदद दी गयी और दी भी जा रही है, परन्तु हमारे हिन्दीभाषी नेतागण हिन्दी के प्रति उदासीन हैं। अब तो हिन्दी का पक्ष समर्थन शासन विरोधी कार्यवाही के तुल्य है। हिन्दी के बड़े से बड़े समर्थक हिन्दी के पक्ष में कुछ कहने का साहस नहीं करते। हिन्दी प्रांत के मुख्य मंत्री इस बात को दुहराते नहीं अघाते कि हिन्दी किसी पर थोपी नहीं जायेगी।

साहित्यिक पत्रिकाओं को सेठाश्रयी पत्रिकाओं की होड़ में टिक पाना असम्भव हो गया। पाठक-पाठिकाओं की रुचि का निर्माण करने का काम सम्पादकों और प्रकाशकों का है। बच्चा या मरीज कुपथ्य खाना चाहे तो उसके संरक्षकों का कर्त्तव्य नहीं है कि वही दे दें। परन्तु यहां प्रश्न कारोबार का है। सेक्स, क्राइम स्कैंडल लोगों को पसन्द है, वही पत्रिकाओं में मिल भी रहा है। आद्योपान्त सही-गलत विवरणों से भर दी जा रही हैं—पत्रिकाएं। सुरुचि सम्पन्न सम्पादक रुचि परिष्कृत कर सकता है लेकिन इस मुद्दे पर सोचने की फुर्सत किसे है?

मैं यह नहीं कहता कि पत्रिकाओं में गांधीदर्शन और नीतिवाद का ही बोलबाला हो। यह भी नहीं कि पात्र पात्रियों द्वारा 'नाथ' कहलाकर ही सम्बोधित हों। परन्तु अश्लील, घिनौनी कहानी और ईशप की नीति कथा के बीच काफी फासला है। ३५-४० वर्ष पहले की बात है। 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ मैंने कहानी भेजी थी। उसमें नायक को नायिका ने तुम कहकर सम्बोधित किया था। तत्कालीन सम्पादक ने कहानी लौटाते हुए कहा था, 'राम, राम! पति को तुम कहलाने वाली कहानी भला हम सरस्वती में छाप सकते हैं?' मैं यह भी नहीं कहता। लेकिन यदि केवल मारधाड़, बलात्कार आदि के विवरणों से पूर्ण कहानियां ही प्रस्तुत की जायें तो रुचि बिगाड़ने का दायित्व सम्पादक पर ही जायेगा। पहले का सम्पादक अपना

दायित्व समझकर साहित्यकार बनाता था। रामानन्द बाबू ने रवीन्द्रनाथ, ताराशंकर जैसे कहानीकार तथा कवि और डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या जैसे निबन्धकार को सामने लाने का काम किया। राय बहादुर जलधर सेन ने शरतचन्द्र जैसा उपन्यासकार और सजनीदास 'बनफूल' जैसा कवि-कथाकार बनाया। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने तो वर्तमान हिन्दी का निर्माण ही किया। आज के प्रायः सभी, हिन्दी के ख्यात कथाकारों, कवियों एवं निबंधकारों को 'सरस्वती' के माध्यम से बढ़ने का सुयोग उन्होंने दिया था। मौजूदा हालत में पत्रिकाएं गुटबंदी का शिकार हैं। साहित्यिक अवनति तो होगी ही।

वास्तव में आज की पत्रकारिता ने साहित्यिक रुझान को साहित्य के क्षेत्र से विदा कर दिया है। रचना का श्रेष्ठत्व उसके स्तर से नहीं, अपितु सामान्य पाठक की पसन्दगी से निर्धारित किया जा रहा है। जबकि साहित्य का सृजन 'मांग और पूर्ति' के आधार पर न होकर अन्तरात्मा की गहराई से होता है।

आज सम्पादक 'धन्यवाद सहित वापस' करके साहित्य को 'मेड टू आर्डर' पर ला रहे हैं। 'मेड टू आर्डर' वाली ही स्थिति रही तो फिर···! साहित्य के नाम पर बकवास ही होगी। कोई शक नहीं की सुलभ मूल्य पर यदि अज्ञेय, जैनेन्द्र, नागर, अश्क, भारती, रवीन्द्र, शरत उपलब्ध हों तो पाठक उन्हें न पढ़ें।

कारवां में शामिल होइए···और कोई चारा नहीं है।

☐ **अवध किशोर पाठक**, सम्पादक : युवारश्मि, लखनऊ

प्रश्न जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही सामयिक भी। जब कोई अशोभनीय घटना घट जाती है, तो सन्नाटा छा जाता है। सामाजिक और राजनैतिक तौर पर तो यह सन्नाटा अल्प-कालिक होता है, किन्तु साहित्य में सन्नाटा जरा लम्बा ही खिंचता है। साहित्यिक पत्रिका से मतलब (आपका) साहित्यिक पत्रकारिता से है तो समझ लीजिए कि साहित्यिक पत्रकारिता सन्नाटे के दौर से गुजर रही है। यह दौर जल्द ही खत्म हो जाएगा, ऐसे भी आसार नजर नहीं आते··क्योंकि पत्रकारिता जब मिशन थी तब उसका नैतिक पक्ष ज्यादा मजबूत था, अब 'प्रोफेशन' बन जाने से अधिकाधिक धन कमाना ही एकमात्र लक्ष्य हो गया है। पाठकों की रुचियां लेखकों ने इतनी बिगाड़ दीं कि अब सामान्य पाठक उत्तेजक रोमान्टिक किस्से पढ़ने और अधनंगी तस्वीरें देखने का आदी हो गया है। साहित्य जो कभी सीख देता था, ज्ञानवर्द्धन करता था, अब मनोरंजन करता है या सूचना देता है। आज हिन्दी में एक भी पत्रिका ऐसी नहीं मिलेगी, जिसे पूर्णतः साहित्यिक कहा जा सके, जबकि चुनाव-समीक्षा और कथित राज-नेताओं की भेंट-वार्त्ताओं से भरी होती हैं ये पत्रिकाएं। आपको मालूम ही होगा कि लाखों की प्रसार-संख्यावाली ये पत्रिकाएं सेठाश्रयी हैं और सेठ अपने धंधे से मुहब्बत करता है—साहित्य से उसका कुछ लेना-देना नहीं होता। साहित्यकार और पत्रकार भी अब सुविधाजीवी हो गए हैं। उन्हें आराम की ज़िन्दगी चाहिए। अधिकाधिक धन चाहिए। लेकिन, साहित्यिक बात करने से तो शायद उतना धन नहीं ही मिलेगा।

कसम खाने के लिए कुछ साहित्यिक पत्रिकाएं निजी तौर पर आज भी निकाली जा रही हैं, किन्तु उनका कोई वजूद नहीं है। आज भी पुस्तकालयों में जब 'चांद', 'हंस', 'सरस्वती', 'विशाल भारत' आदि पत्रिकाओं की पुरानी फाइलें देखता हूं तो मन में एक हूक उठती है और आपका सवाल बहुत देर तक सोचने को बाध्य करता है, मन को कुरेदता है। फिर समाधान भी शीघ्र ही मिल जाता है कि जब वे लोग नहीं रहे, वह आदर्श नहीं रहा और जब जीवन मूल्यों में व्यापक बदलाव आ रहा है, परम्परा को रूढ़ि कहकर लगातार तोड़ा जा रहा है तब 'उन पत्रिकाओं' के विषय में सोचकर, उनकी याद करके क्या होगा ? बेहतर हो कि जो सामने है उसे स्वीकारें। कारवां में शामिल होइए···और कोई चारा नहीं है।

बस, याद ही धरोहर है

☐ **शंकर दयाल सिंह**, सम्पादक : मुक्तकंठ, पटना

हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाओं की बात सामने आयी है तो मेरा स्वयं का बचपन सामने आ खड़ा हुआ है। टो-टाकर पढ़ना शुरू ही किया था कि घर में कहीं 'सरस्वती' मिल जाये तो कहीं 'माधुरी' और बाद में 'हिमालय' तथा 'पारिजात' का तो मैं पाठक ही हो गया। कुछ पाठकीय यात्रा आगे बढ़ी तो 'विशाल-भारत', 'नया समाज', 'प्रतीक', 'पाटल', 'अवन्तिका' और 'नई धारा' को ग्रहण करने की समझदारी हो गयी।

वैसे 'ऊषा', 'योगी', 'गृहस्थ', 'हुंकार' जैसी पत्रिकाएं मेरे घर बराबर आती थीं। जब कभी कागजों को उलटता-पलटता तो उनमें 'मतवाला' मिल जाती, 'हंस' के दर्शन हो जाते और 'सुधा' भी सामने आ जाती।

उस काल के साहित्यिक पत्रों की निष्ठा तथा स्तर उनके सम्पादकों के नामों के साथ ही उभरता था। 'विशाल-भारत' का सम्पादन बनारसीदास चतुर्वेदी करते थे। बाद में 'अज्ञेय' जी करने लगे। हंस' प्रेमचंद जी की देन थी। 'हिमालय' आचार्य शिवपूज सहाय जी संभालते थे। 'नई धारा' का सम्पादन बेनीपुरी जी, 'अवन्तिका' का डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु और 'साहित्य' का आचार्य नलिन विलोचन शर्मा करते थे।

बाद के दिनों में 'प्रतीक' (सच्चिदानन्द वात्स्यायन) और ज्ञानोदय (लक्ष्मीचन्द जैन) को बहुत काल तक साहित्यिक पत्रकारिता का चरमोत्कर्ष अथवा उदाहरण माना गया। मेरी अपनी धारणा यह है कि कठोर परिश्रम, अनुशासन, निष्ठा तथा लगन के साथ जो पत्रिकाएं प्रारम्भ में निकलीं उनकी साहित्यिकता कायम रही, लेकिन फिर बड़े व्यावसायिक घरानों ने जब इस ओर अपने को मोड़ा तबसे इस तरह की पत्रिकाएं व्यावसायिक अथवा बिकाऊ हो गयीं। उनका साहित्यिक स्तर गिरता गया और बिकाऊपने का रूप उभरता गया—जो आज का प्रतिमान बन गया है।

साहित्यिक संस्थाओं से जुड़ी पत्रिकाओं को इस संदर्भ में हम अवश्य याद कर सकते हैं, जैसे काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सम्मेलन पत्रिका, परिषद पत्रिका आदि। संस्थाओं से अलग हटकर व्यक्तियों ने भी किन्हीं पत्रिकाओं के प्रकाशन का बीड़ा उठाया, लेकिन अनेक ऐसी पत्रिकाएं पांच-सात या दस अंकों तक निकलने के बाद काल-कवलित हो गयीं। 'दृष्टि-कोण' से लेकर 'गांधारी' अथवा 'सुजाता' तक की यही कहानी रही।

पत्रकारिता आज सही अर्थों में साहित्यिकता न होकर व्यावसायिकता है, अतः उन साहित्यिक पत्रों की याद ही धरोहर है। मेरे पास लगभग २५० ऐसी पत्र-पत्रिकाएं दो-चार अंकों में ही सुरक्षित हैं, जो निकलीं लेकिन चली नहीं।

'कहां गयीं हिन्दी की वे साहित्यिक पत्रिकाएं !' की याद करते हुए वर्तमान से मैं बिल्कुल निराश भी नहीं हूं। आज भी दर्जनों ऐसी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएं निकल रही हैं, जिन्हें देखे बिना पाठकीय मन को संतोष नहीं होता, यथा 'साक्षात्कार', 'मधुमती', 'पूर्वग्रह', 'परामर्श', 'पहल', 'दस्तावेज', 'कहानीकार', 'संचेतना', 'कथन' आदि की अपनी साहित्यिक गरिमा है। मैं तो 'प्रसंग', 'संधान', 'युवारश्मि' और 'कोशा' जैसी लघुपत्रिकाओं पर मुग्ध हूं, जिन्होंने पत्रकारिता में साहित्यिकता के स्वर को जीवित रखा है।

सब होते हुए भी आम चर्चाओं में भी आज का पाठक उन पत्रिकाओं को याद किये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने अपना प्रतिमान कायम किया।

आधुनिकतावाद के गर्भ में......

□ **डॉ० नन्द किशोर नवल,** सहसम्पादक : आलोचना, दिल्ली

हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता का इतिहास वाकई काफी शानदार रहा है। हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के साथ हुआ। इस महान आंदोलन ने ही हिन्दी की पत्रकारिता को बल दिया। बाद में जब साम्राज्य और सामंत-विरोधी जनवादी आंदोलन में समाजवादी सार-तत्त्व का समावेश हुआ, तो हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता ने एक नयी ऊंचाई हासिल की। मेरा संकेत स्पष्टतः 'हंस', 'रूपाभ', 'नया साहित्य', 'नया पथ' आदि पत्रिकाओं की ओर है। हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता पर आए संकट के कई कारण हैं। एक तो पूंजीवाद ने समाज में अपनी प्रगतिशील भूमिका पूरी कर ली और परवर्ती दौर में वह यथास्थितिवाद का समर्थक बन गया। दूसरे स्वातंत्र्योत्तर काल में हिन्दी साहित्य पर आधुनिकतावाद का प्रभाव पड़ा, जिससे साहित्यिक पत्रकारिता भी बनी नहीं रही। आज भारतीय पूंजीवाद और अधिक पतनशील दौर में हैं, जिससे वह एक पतनशील संस्कृति के प्रचार में लगा है। सैकड़ों की संख्या में निकलने वाली पत्रिकाएं इसका सबूत पेश करती हैं। इन पत्रिकाओं के लिए साहित्य शुद्ध व्यवसाय रह गया है।

एक बात और है। 'धर्मयुग' जैसी पत्रिकाएं जितने पैसे में नाना प्रकार की सामग्री (गलत ढंग की ही सही) मुहैय्या कराती हैं, कोई साहित्यिक पत्रिका नहीं कर सकती है। इस प्रतियोगिता ने भी साहित्यिक पत्रिका को परास्त किया है। आधुनिकतावाद का परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता का अपना चरित्र ही समाप्त हो गया है। उसमें (पहले की साहित्यिक पत्रिका में) साहित्य 'शुद्ध' रूप में नहीं पेश किया जाता था, बहुतेरे अन्य स्तम्भ भी होते थे। 'प्रतीक', 'कल्पना' आदि पत्रिकाएं 'सरस्वती', 'माधुरी', 'चांद' आदि पत्रिकाओं की परम्परा से भिन्न परम्परा की पत्रिकाएं थीं, यह बतलाने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। पत्रिका को शुद्ध साहित्यिक रूप देने का मतलब था, उसका सामान्य पाठकों से सम्बन्ध-विच्छेद। वह होकर रहा लेकिन चूंकि हिन्दीभाषी प्रदेश की जनता उसे संघर्षोन्मुख रखती आयी है, इसलिए न तो उसकी जातीय साहित्यिक परम्परा समाप्त होगी और न उसकी

पत्रकारिता की परम्परा। इसका उत्स हिंदी प्रदेश से अच्छी संख्या में प्रकाशित होने वाली छोटी पत्रिकाएं हैं। वे साधनहीन हैं, आधुनिकतावाद के प्रभाव से अछूती नहीं हैं, तथापि वे ही आशा का केन्द्र हैं।

वह रोशनी अभी बुझी नहीं।

☐ **विक्रम कुमार**, संपादक : ऋतुचक्र, इन्दौर

आज की पत्रकारिता के युग में पत्र-पत्रिकाओं का इतना अधिक विस्तार हुआ है कि उनके नामों से भी अपरिचित होना कोई ताज्जुब नहीं। चमक-दमक और भोग-विलासिता से भरी पत्रिकाओं ने हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाओं का जीवन संकट में डाल दिया है। एक समय था जब हिन्दी की साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की पूछ-परख थी। 'हंस', 'विशाल-भारत', 'सरस्वती' जैसी पत्रिकाओं के नाम तो अभी भी हमारी स्मृति में ताजा हैं। 'सरस्वती' और 'कल्पना' तो अभी-अभी अस्त हुई हैं। इन्होंने अपनी सामर्थ्य भर निकलना चाहा। इनके चलाने वाले हाथ भी इतने समर्पित और प्रामाणिक होते थे कि वे पत्रिका को निरन्तर मांजते हुए उनका एक स्तर भी निभाते थे। उस समय की परिस्थितियों और कुछ व्यक्तियों ने भी साहित्यिक पत्रिकाओं के विकास में योगदान किया।

मौजूदा परिवेश में यह चौंकाने वाली बात है कि पहले से बहुत अधिक पत्रिकाएं निकल रही हैं, लेकिन उनका साहित्य···? अलबत्ता इनमें से लघु और अनियतकालीन तथा अनियमित (कुछ नियमित भी) छोटे दायरे वाली, अल्पजीवी, गिनी-चुनी पत्रिकायें अपने बल-बूते पर अभी भी साहित्यिक सामग्री हमें दे रही हैं। इनमें 'तीर्थंकर' मासिक 'ऋतुचक्र' त्रैमासिक (इन्दौर); 'आवेग' (रतलाम); 'तनाव', 'आकंठ' (पिपरिया); 'जमीन', 'आवस्त' (उज्जैन), प्रतिबिम्ब', 'अन्तर्यात्रा' (भोपाल); 'आदमी' (हरदा); 'पहल' (जबलपुर); 'प्रकर', 'संचेतना', 'संधान', 'विषय-वस्तु' (दिल्ली); 'नई धारा' (पटना); 'उत्तरा' (बड़ौदा); 'धरती', 'प्रारूप' (इलाहाबाद); 'वर्ष-वैभव' (बम्बई); और 'सीप' (कलकत्ता) आदि उल्लेखनीय हैं। साथ ही संस्थागत आधार पर इन्दौर से 'वीणा', भोपाल से 'अक्षरा', दिल्ली से भाषा (भारत सरकार), दिल्ली से ही सस्ता साहित्य मंडल का पत्र 'जीवन-साहित्य', गांधी शांति प्रतिष्ठान का 'गांधी मार्ग' और राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित 'आलोचना' के अपने-अपने विशिष्ट व्यक्तित्व हैं; समकालीन प्रकाशन से 'युवा कवि' और 'समकालीन कला और कविता' नाम के दो पत्र निकलते हैं; कलकत्ता से प्रकाशित भारतीय भाषा परिषद का 'संदर्भ भारती' और जम्मू की जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़ से 'शीराज़ा' आदि की भी अपनी अलग पहचान है। निश्चय ही इनकी प्रवृत्ति खोजपूर्ण एवं विचारपूर्ण साहित्य सामग्री देने की है। मध्य प्रदेश कला परिषद की पत्रिका 'पूर्वग्रह' और साहित्य परिषद की 'साक्षात्कार' तथा भारत सरकार के प्रकाशन विभाग से निकलने वाली पत्रिका 'आजकल' भी साहित्यिक सामग्री देती हैं।

यह भी सच है कि आज लेखक साहित्यिक पत्रिकाओं के बजाय अपेक्षाकृत लोकप्रिय और बड़ी पत्रिकाओं में लिखना ज्यादा पसन्द करते हैं, ताकि आर्थिक स्थिति के साथ लेखन भी पलता रहे। बड़े पैमाने पर प्रसारित होने की आकांक्षा भी उन्हें 'साहित्यिक टेस्ट' की पत्रिकाओं से अलग कर देती है।

रंगीन पत्रिकाओं, टेलिविजन और मनोरंजन के दिनोंदिन बढ़ते साधनों ने भी साहित्यिक

रुचि को खत्म किया है। साहित्यिक पत्र-पत्रिका या पुस्तक मंगाकर पढ़ना तो अब स्वप्न की बात होती जा रही है। समाचार प्रधान पत्रकारिता ने तो साहित्यिक पत्रकारिता के आगे खतरे का लाल निशान अलग से लगा रखा है।

साहित्यिक पत्रिकाओं ने किसी समय समाज और जीवन को जोड़ने का जो दायित्व निभाया, उसे आज की कुछ पत्रिकायें निभा रही हैं (जूझती हुई)। उन पत्रिकाओं ने साहित्य का जो दीपक प्रज्वलित किया उसकी रोशनी मद्धिम जरूर हुई है, पर अभी बुझी नहीं। जरूरत उन्हें आत्मनिर्भर बनाने की है। यदि उनकी ऐसी ही उपेक्षा होती रही, दिनोंदिन उनका आर्थिक जीवन दयनीय बनता रहा तो निश्चय ही हमारा हिन्दी साहित्य का भवन वैसा ही होगा, जैसे समुद्र पर बच्चे कागज की नाव तैराते रहें और उत्साह में मग्न होते रहें।

□

कहानी

तन्हाई

□ क्षमा कौल

वहां रुके-रुके तनाव अब और अधिक बढ़ गया था। सुमी ने कदम आगे की ओर बढ़ाए।

—मेरा हठ भी अजीब है। जीप में चली गई होती तो अब तक घर भी पहुंच गई होती ···यहां मेरे हिस्से कौन-सी चीज आती है···।

उसे जीप में जाना अच्छा क्यों नहीं लगता वह स्वयं हैरान है। यह जोखिम भरे निर्णय ही उसे संकट की घड़ियों का शिकार करते हैं। वह आहत मन और टूटे कदमों से धीमे-धीमे आगे बढ़ती रही। कारखाने का शोर कभी-कभी गाड़ी के आने के भ्रम में डाल देता। ऐसे क्षणों में जी चाहता है कुछ गुनगुनाए···पर सड़क होती है प्राय:। यह तो सुनसान है···और वह हौले-हौले एक धुन निकालने की कोशिश में लग गई।

एक गाड़ी आई, पर ठीक से रुकी नहीं। कुछ दूरी पर के लोग चढ़ गए पर वह दौड़ने के बावजूद भी न चढ़ पाई। 'हूं-हूं गाड़ी में चढ़ने तक का दम नहीं है···लोग समझते हैं मैं भरपूर हूं···अखण्डित। टूटा-फूटापन कहां से दिखता है···कैसे दिखता है व्यक्ति में···'' उसे अपने बहते विचारों पर हंसी आई—शायद मैंने ही जानबूझकर गाड़ी में चढ़ना नहीं चाहा···यह भी तो सच है···मेरी दौड़ ही वैसी थी···आदमी अपने साथ भी आंशिक झूठ बरतता है···' रहे-सहे लोग भी उसमें चढ़ गए थे। इतनी तीखी ठण्ड में सब जल्दी से जल्दी घर पहुंचना चाहते हैं पर वह···। वह कहां जा रही है? चढ़ना चाहा होता तो बस में दम घुटता या धक्के खाती पर जैसे-तैसे गाड़ी में समा जाती वह भी।

कारखाने का क्षेत्र समाप्त हो चुका था। सुमि पुल तक की चढ़ाई चढ़ने लगी। शीत लहरों से वह अवान्तर क्षणों में कांप-सी उठती। पुल ऊंचाई पर है, जहां से हवाई अड्डे का भव्य दृश्य खुलता है तथा हवाई अड्डे के यातायात से ग्रस्त रहता है। इस वक्त भी कोई उड़ान आई है और कारों का तांता बंधा हुआ है। वह पुल के जंगले से पीठ टिका कर खड़ी हो गई। दनदनाते हुए सामने से एक जीप गुजर गई। कुछ कोसों की दूरी पर उसने आंखों में अक्षर कैद किए—"क्या···? पी० डी० डी० ओ कुलवन्त, तुम।" वह अपने भीतर ही भीतर चीख-सी पड़ी, जैसे उस दफ्तर की जीप में कुलवन्त ही हो सकता था और कोई नहीं। उसका हृदय

हथौड़े की तरह उठने-गिरने लगा। उसने पीठ फेरी और पुल के नीचे देखने लगी···जमीन के शिगाफों में। जीप अदृश्य हो चुकी थी।

"कमबख्त तुम रुके नहीं···मुझे इतनी शाम को यहां देखकर भी नहीं···।" उसकी दोनों आंखें खुद-ब-खुद भर गईं और दो आंसू लुढ़के भी।

"कैसी बेवकूफ हूं···ज़रूरी नहीं था कि यह कुलवन्त ही होता···उस विभाग में क्या वही है सिर्फ···" अबके वह फिर अपने साथ हंस दी।

"सुनो तुम यहां ही हो आजकल। कहां हो तुम?" यह तय नहीं कि वह यहां है या नहीं पर वह उसकी प्रतीक्षा यहां करती है और मन के कुलवन्त से ऐसे ही बोलती है प्रायः। उसका अपना टेकनीक है। वह कुलवन्त की प्रकाण्ड कल्पना कर उससे बातों में उलझ गई।

"देखो, पुल की क्या जरूरत थी यहां···बेकार नहीं है क्या···?" जैसे उससे वार्तालाप शुरू करना है तो एक सामान्य बात से ही करें। उसके प्रश्न पर कल्पना में कुलवन्त सिर्फ मुस्करा दिया। वह पुल एक ऐसे नाले के ऊपर है, जो सूखा ही रहता है···उस नाले में कभी बरखा का पानी भी नहीं टिका। इसीलिए उसने ऐसा सोचा था शायद!

"कितनी सर्दी है कुलवन्त, तुम्हें कम ही लगती है। हां, ओल्ड मॉन्क थ्री एक्स रम है न? मैं भी पिया करूंगी।"

सर्दी के निरन्तर झोंकों ने उसे बराबर परेशान किया···अन्धेरा धीरे-धीरे करीब आ रहा है···वह ध्यान में लौटती है तो सहम सी जाती है···आसपास सब कुछ शून्य से भर रहा है···पर इस आशा से कि अभी बस आएगी वह फिर धैर्य से बैठ जाती है। मन के किसी कोने में वह प्रतीक्षा कर रही है। कुलवन्त की···उसने जो देखा है उसे···वह जीप को वहां छोड़कर आ जाएगा।

"हम हीटर पर खूब गर्मी करेंगे···मैं सर्दी से मर जाऊंगी, कुलवन्त।"

उसने थैले में से सिगरेट ढूंढनी शुरू की···निकालकर सुलगाने लगी। आसपास कोई न था पर वह फिर कुलवन्त के समीप जाने लगी···सोचा वह भी पास में खड़ा है तो धुआं ऐसे उछालने लगी जैसे उसको चकमा दे रही हो और उसने सिगरेट का सुलगता सिरा उल्टा अपनी हथेली के भीतर छिपा रखा था···पास कोई न था सिर्फ उसकी कल्पना का कुलवन्त। फिर सहसा ध्यान आया।

"अरे तुम आओगे···तुम मेरे मुंह की दुर्गन्ध के कारण मुझे अपने से दूर छिटक दोगे, खूब आंखें तरेर कर देखोगे···तुम्हें सिगरेट बेहद गन्दी चीज लगती है···मारो गोली।" उसने सिगरेट जमीन पर दे मारी और लम्बे-लम्बे श्वास खींचकर बाहर फेंकने लगी···कुलवन्त आएगा इसलिए उसे उसके मुंह से बदबू न आए···अन्यथा वह अपने करीब नहीं खींचेगा।

वह वहीं खड़ी है···प्रतीक्षा में। बस की या कुलवन्त की···वह भी निश्चित रूप से नहीं जानती···तन्हा कुलवन्त के साथ कुछ क्षण बिताने के लिए वह चोरी से आई हो मानो।

"अच्छा किया तुमने जीप नहीं रोकी···तुम्हारे साथी फिर खोजबीन करते···और तुम गोपनीयता में बहुत विश्वास करते हो···मैंने इसीलिए पीठ फेरी थी।" जैसे वह जीप छोड़कर सचमुच ही उसके पास आ गया हो।

गाड़ी की आवाज ने उसका ध्यान भंग किया, वह आशान्वित हो उठी···शायद गाड़ी आ गई और इसमें से कुलवन्त उतरेगा···उसी दिशा से तो आ रही है गाड़ी। किन्तु गाड़ी दूसरी दिशा से आ रही थी···ड्राइवर ने गाड़ी की गति धीमी की, अकेली लड़की को देखकर कि शायद

वह चढ़ना चाहे। उसने मुस्कराकर नज़र नीचे झुका ली और मन ही मन बोली—नहीं भई कुलवन्त आएगा। गाड़ी पुनः तेज होकर चल दी। सड़क के किनारे एक शहतीर पर वह इत्मीनान से बैठ गई·· अन्धेरा है तो है, अभी तो आयेगा वह·· फिर किसका भय। मैं उसके साथ चली जाऊंगी।

"बैठो कुलवन्त।"

'......"

"अच्छा मत बैठो।"

"सुनो। तुम उस दिन इसी रास्ते से हवाई अड्डे गए थे···उसी उड़ान में टिकट लिया था···जानबूझकर··जिसमें मैंने लिया था। तुम बहुत शरारती हो। कैसे-कैसे परेशान किया न विमान में···बेमतलब की बातें पूछकर। सुनो कुलवन्त, बैठो न।" वह फिर अजीब तनाव में घिर गई··कहां है कुलवन्त···क्यों वह इस कदर उसके साथ बोलती है···वह कहां आएगा · कैसे आएगा ··उसे किसने कहा है आने के लिए। उसका तो कोई अता-पता भी मालूम नहीं·· तो कैसे आएगा वह। फिर वह सिहरकर उठ गई। ऐसी स्थिति में उसे अपने अन्दर कुछ जलता-सा अनुभव होता है··वह उसी तीव्रता से अपने को सिंकने देती है।

एक आवाज़ ने फिर उसे चौंका दिया। हल्की-सी आवाज एक विशेष टैक्सी की थी। टैक्सी के अन्दर बैठे लोगों ने उसे घूरा तथा फिर टैक्सी पुल की ऊंचाई से नीचे उतरती विलीन भी हो गई। वह फिर अपने साथ हंस दी। घड़ी देखी। छः बजने में सिर्फ दस मिनट हैं। सवा छः बजे तो गहरा अंधेरा फैल जाएगा।

"उफ् कुलवन्त, तुम रुक गए होते···तुम्हारा क्या जाता···इतनी घृणा करते हो मुझसे तुम··सच कहो, कुलवन्त।"

उसका ध्यान फिर टूट गया···एक तिथि याद आई, फिर मन ही मन आकलन किया।

"ओह तीन मास बीत गए होते···है न कुलवन्त?"

"याद है न तुम्हें···तुम्हारा कहना कि जी करता है···" वह जानती थी कि वह विचित्र भावनाओं का आवर्त उसमें उठ खड़ा होगा।

"क्या···?" उसने आनन्दित हो पूछा था।

तुम्हारे यहां एक बीज बो दूं···तुम जानती हो पौधा कितना सुन्दर होगा··बेहद-बेहद तुम्हारे जैसे शरीर वाली औरत का बच्चा सुन्दर होता है···उसने उसके पेट को दोनों हथेलियों में भरने की कोशिश-सी करते कहा था।

उसने एक लम्बी सांस खींची थी··एक वेदना···एक खुशी···एक उपलब्धि···एक अद्भुत अहसास उसकी रग-रग में व्याप गया था। पहले सुखद आश्चर्य से उसकी आंखें बाहर निकल आई थीं और फिर आंखें मूंदकर वह उसके कन्धे पर सर रखकर खूब रोई थी··एक दायित्व बोध-सा। और कुलवन्त की यह उत्कट इच्छा कहीं से उसकी मूलभूत इच्छा से भी जुड़ गई थी।

"सच मानो मेरी भावनाओं का आधार मन है, मात्र मन।"

"तब···?"

"तब क्या लाभ यही न···बोलो···।"

"हां कभी-कभी तुम्हारी अनुपस्थिति में मेरे अन्दर एक शैतान सक्रिय और कटिबद्ध हो जाता है, पर जब तुम सामने आती हो···वह फुर्र हो जाता है। वह तुम्हारे सामने नहीं टिकता

...नहीं टिकता सच।"

"वासना...?"

"हां...तुम वही समझो। पर, तुममें नहीं जगती? इसलिए कहता हूं कि तुम खुद तो नहीं होओगी पर मुझे पागल जरूर बना दोगी।"

"तुम्हें क्या पता कुलवन्त...नहीं जगती?"

"मैंने जान लिया है...यही सत्य है तुम्हारे सम्बन्ध में...मैंने भरसक प्रयत्न किया था...नहीं जगती और तुम दबाये थोड़े हो सुमित्रा...तुममें भयंकर रूप से प्रसुप्त है। तुम मासूम हो, माफ करो सुमित्रा, मुझे माफ करो।" वह एकदम रो दिया था और सुमित्रा बच्चों की तरह ही हंसती रही।

"कुछ समझ में नहीं आता क्या कहना चाहते हो तुम...क्यों रोते हो...?"

कुलवन्त ने अपने को सम्भाला और दरवाज़ा खोलकर बाहर चला गया था...वह गौर करने लगी उसकी बातों पर। इस सुरमई रोशनी में वह उसकी एक-एक बात का गहरा अर्थ समझ रही है। कुलवन्त जैसा ही एक नन्हा रूप उसके अहसासों के रेखाचित्र में उभरता है फिर विलीन हो जाता है।

नहीं गलत कहा था मैंने...वासना नहीं थी वह। फिर तो तुम, मेरे द्वारा अपना लघुतम अनुवाद नहीं चाहते ..तुम यदि सिर्फ शरीर सुख में विश्वास करते तो पौधे की कल्पना नहीं करते...कुलवन्त आओ..यहां आसपास कोई नहीं, कोई बस्ती नहीं, यहां वृक्ष हैं...घास है...खेत हैं यह सब धर्म, आयु और संस्कारों के कूड़ा-कर्कट से ऊपर स्थित हैं...मैं इन्हीं की हिरासत में हूं...आओ, यहां कोई बाधा नहीं...कोई किसी मापदण्ड से नहीं मापेगा हमें यहां...अब तुम्हारा शैतान बहुत भाता है...आओगे क्या, उसके साथ आना। वह विक्षिप्त हो उठी। कुलवन्त के लिए बहुत अधीर। अन्धेरा पूरी तरह घिर आया था। चांदनी है, यह गनीमत है। वह ज़रा वास्तविकता में लौटेगी। अब कुलवन्त का अस्तित्व पूरी तरह मिट गया है · यह उसकी तबाही है और कुछ नहीं। उसने अपने को झिंझोड़ा...कुलवन्त से मुक्त करना चाहा...पर लगा कि वह पीछे से आकर अपने दोनों हाथ उसके दोनों कन्धों पर रखेगा कहेगा—खेद है देर हो गई...चलो।

"नहीं छोड़ो...मैं अकेली जाऊंगी।" वह चलने लगी कन्धों को ऐसे झटका कर कि जैसे सचमुच ही उन पर हाथ रखे हों कुलवन्त ने, बहुत देर हो चुकी है...स्मृतियों में गोते लगाते सवा क्या साढ़े छः भी बज चुके हैं...उसे याद ही नहीं इस बीच कोई गाड़ी आई थी या नहीं।

लोग कहते हैं यहां शाम को रीछ आते हैं...भालू आते हैं और गीदड़ तो राज करते ही होंगे...किन्तु उसे डर जैसा कुछ लगा ही नहीं। वापसी के सफर में कारखाने तक पहुंचते-पहुंचते उसे याद आया...कौन कुलवन्त? हंसते हुए कहा छोड़ो भी...सिगरेट निकालकर पीने लगी। मन में अब आतंक भर गया। क्या करे...पैदल चले...और क्या विकल्प है...एकमात्र वही तो यातायाती सुविधा है। बस्ती तक आधा मील चलना है।

उसको लगा जितना वह दृष्टि को इधर-उधर के काले शून्य में दौड़ाएगी उतनी ही अधिक आतंकित होगी। कुलवन्त में खोने का अर्थ है निर्भीकता में खोना। फिर कुलवन्त उसके अन्दर कौंध गया और मशीन की तरह उसके पैर चलने का धर्म बेतहाशा निभाने लगे।

□

कहानी

मकान

☐ नरेश कुमार 'उदास'

"भाभी अब चुप भी हो जाइये ।" किन्तु भाभी का स्वर क्रमशः तीव्र और कर्कश हो चला था, कुछ दरवाजे खुलने की अस्पष्ट ध्वनि उत्पन्न हुई । शायद पड़ोसियों ने अपनी दीवार से कान सटा दिये होंगे ? मैं पलंग पर अधलेटा-सा था, उठकर बैठ गया । भाभी भाई साहब की विपरीत दिशा में बैठी थी । यानी, रसोई और कमरे से जुड़ती भीतरी चौखट के समीप कोने में । पिताजी, भाई साहब, दीवार से सटी आराम-कुर्सियों पर। भाई साहब के बच्चे एक कोने में उपेक्षित पड़ी लम्बी बेंच पर सिमटे, दुबके बैठे थे । उत्सुकता आश्चर्य के मिले-जुले भावों से परिपूर्ण, वह वक्ता को ताकने लगते । भाभी बड़बड़ाये चली जा रही थी । यह सब मेरे लिए असहनीय हो चला था ।

"अपने बाप को नहीं समझाते, मैं कब से तुम्हारी बातें सहती चली आ रही हूं । सभी मुझे कोसते हैं, इनके मुंह में तो जुबान नहीं।" भाभी का इशारा भाई साहब की ओर था, "इनके लिए मैं जीऊं या मरूं, मेरी तो इस घर में इज्जत ही नहीं । जितना भी भला करो, उतना ही…।" बात बीच में ही काट ली पिताजी ने, "विजय तू भी यहां आया हुआ है । जरा पूछ इसको, कभी धोये हैं इसने मेरे कपड़े ? इसे शर्म नहीं आती, बूढ़ा हो चला हूं ।" पिताजी ने यह प्रश्न मेरी ओर उछालकर, कनखियों से भाई साहब को देखा । बड़े भाई साहब खामोश, मौन दर्शक बने बैठे थे । हां, उनके बच्चों-की मुखाकृति पर आश्चर्य के भाव कुछ गहरे हो चले थे । उनका सबसे बड़ा लड़का जो लगभग चौदह वर्ष का रहा होगा, बड़ी एकाग्रता से वाक्-युद्ध देख रहा था । भाभी की धीरे-धीरे सिसकियां उभरने लगी थीं । उनका अस्तित्व हौले-हौले कांप रहा था । वह बिलकुल मेरे सम्मुख बैठी थीं ।

"अभी कमाता हूं, तभी यह हाल है । अगर तुम पर आश्रित होता, तो ना जाने क्या होता ।" पिताजी का स्वर गुस्से की अधिकता से कांपने लगा था । "पूछ जरा इससे, इसने मेरे वस्त्रों की तुलना कफन से की है या नहीं । इसने कहा है, मुझसे नहीं धुलते तुम्हारे कफन । मुझे जीते जी मार रही है, अभी मेरे हाथ-पांव सलामत हैं ।" उनका स्वर आवेश से भरा था, मानो दबा हुआ ढेर सारा लावा अनायास फूट पड़ना चाह रहा हो । बड़े भाई साहब बस वक्ता की

ओर देखते, सुनते···कहते कुछ नहीं। उन्होंने चुप्पी साध ली थी।

मैं भीतर उबलने लगा था। पिताजी का इतना अनादर, भाभी के ये कटु-वचन···कम से कम इन्हें पिताजी के बुढ़ापे का ख्याल रखना चाहिए। यह घटियापन, बड़ों के मुंह लगना, यह वाक्-युद्ध और भाई साहब का यूं चुप बैठे रहना खल रहा था। उन्होंने एक बार भी नहीं कहा, 'नीलू, चुप हो जा।' हां! उन्होंने बच्चों को कहा कि वह उठ जाएं, और जाकर सो जाएं। बच्चे आश्चर्य से भरे थे। अन्यमनस्क भाव से उठकर चले गये। भाभी को मैंने अधिकारपूर्ण स्वर में कहा, "तुम चुप हो जाओ।" वह सहसा थम गई। पिताजी उठकर बाहर जाने को प्रस्तुत हुए, किन्तु फिर बैठ गये।

"मेरा मकान खाली कर दो। मुझे तुम्हारा कोई सुख नहीं। सर्दियों में रसोई में ठिठुरता हूं, गर्मियों में ज़ीने में तपता हूं केवल इसीलिए कि तुम्हें असुविधा ना हो, बच्चों को तकलीफ ना हो। सौ-सौ रुपये बिजली का बिल देता हूं। अब मुझसे सहा नहीं जाता। बच्चे इस लिए होते हैं, अपने अभिभावकों को बुढ़ापे में सुख दें, तुम उल्टे ही मुझे परेशान कर रहे हो। एक ही फैसला है, तुम कहीं और प्रबन्ध कर लो।" वह उठे और बाहर जाने लगे।

"पिताजी···आपको जो भी शिकायत हो, मुझसे कहना चाहिए। इसे क्यों मुंह लगाते हैं आप।" भाईसाहब की अनायास चुप्पी टूटी। उन्होंने बड़ी विनम्रता से यह शब्द पिताजी से कहे। किन्तु शायद उन्होंने सुना नहीं या सुनकर भी अनसुना कर दिया था। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण था, वह रुके नहीं और चले गये। अनायास वातावरण बोझिल हो गया था। भाभी की सिसकियां ना जाने क्यों फिर उभरने लगी थीं? वह जोर-जोर से बोलने लगी थीं, "मैं बुरी हूं, मुझे मुंह क्यों लगाना? मेरे पीछे वाले सब मर गये हैं। मेरा भी कोई होता तो मैं तुम्हारी यह सब यूं ना सहती। मैंने इस घर में आकर ज़िन्दगी बरबाद कर ली है।" वह अनाप-शनाप बके जा रही थीं।

"अब बता मैं क्या करूं, पिताजी से लड़ूं। यही चाहती है तू?" भाई साहब ने प्रश्न-वाचक नेत्रों से भाभी को देखा। "घर में सब चलता है, इन छोटे-छोटे झगड़ों को लेकर बेकार में तूल दे रही हो। चलो, उठो खाना खा लो। उठो,·· उठो, जिद न करो।" उनका स्वर गम्भीर हो चला था। "मुझसे अब और सहा नहीं जाता, मकान का बन्दोबस्त करो। मैं नहीं जानती कुछ भी, मुझे नहीं रहना है यहां? तुम सहते रहो अपने बाप को।" भाभी का स्वर आवेशपूर्ण था। "नीलू, समझाकर कुछ?" आदेशात्मक स्वर।

"मुझे नहीं समझना कुछ भी, कल बन्दोबस्त नहीं हुआ तो मैं सारा सामान बाहर फेंकूंगी। मैं इस घर में नहीं रहूंगी, आप कान खोलकर सुन लें।"

"नीलू", भाई-साहब गुस्से की अधिकता से कांपने लगे। किन्तु गुस्सा पी गये। उठकर जाते हुए मुझे निर्देश दे गये, 'विजय, चल उठ, खाना खा ले।' मैं चुप बैठा था। उठकर रसोई में चला गया। उस दिन कोई भी खाना अच्छी तरह न खा सका। मैं अपने पलंग पर बैठा सोचता रहा यह वाक्-युद्ध सहसा जन्मा था। प्रसंग कोई और था। यह सब अप्रासंगिक था। किन्तु भाभी को यह सब शोभा नहीं देता। सोचा था, दिल्ली जाकर अपने परिवार से मिल लूंगा। मुझे भाई साहब के अनुस्मारक पत्र आते रहते थे। हमें आकर मिल जाओ। तुम्हारे बिना दिल उदास है। सो चला आया। क्या पता था, यह हंगामा होगा? सप्ताह भर रहने का प्रोग्राम था, किन्तु निश्चय कर लिया प्रातःकाल गांव चला जाऊंगा? मां, छोटे दो भाई-बहन गांव में थे। भाई का परिवार और पिताजी यहां इकट्ठे रहते थे। सहसा सोचते-सोचते लेट गया। ना जाने कब

निद्रा देवी ने अपनी आगोश में ले लिया।

प्रातः काल पिताजी ने सब बता डाला। मुझे चाय की बड़ी किल्लत है, प्रातः सब देर से उठते हैं। बाजार जाना पड़ता है। जब से मैंने होश सम्भाला है, पिताजी की इस आदत से खूब परिचित हूं। गांव में मां उन्हें गर्मियों में पांच-छः बजे चाय देती थी। पिताजी मुझे अपनी दिनचर्या की अन्य चीजों की सूची बता रहे थे। उन्होंने बातों के बीच यह भी बता दिया।

अभी पिछले दिनों की बात है, भाई-साहब एक मिनी प्लांट (पौधा) गमले में लाये थे। जो रसोई घर में रखा था। पौधे की बेल दीवार के सहारे ऊपर को बढ़ती चली गई। एक दिन साइकिल निकालते हुए, बेल टूट गई तो भाभीजी ने वह उधम मचाया कि बस ! क्या-क्या कहा ? पिताजी ने अक्षरशः बता दिया। बड़ा अजीब लगा सुनकर। मन अवसाद से भर गया। कुछ देर बाद पिताजी ऑफिस चले गये। जाती बार गांव क्या-क्या ले जाना है, मुझे निर्देश दे गये।

मुझे आये हुए एक ही दिन हुआ था। मैं गांव के लिए तैयार होने लगा। मुझे कपड़े समेटते हुए देखकर, भाभी मेरे पास चली आई।

'विजय तू कहां चल पड़ा ?' उनका ठंडा स्वर उभरा।

"गांव जा रहा हूं, छुट्टियां कम हैं। माताजी से भी मिलता आऊं। मुझे शीघ्र वापस लौटना है।"

"क्या रहेगा नहीं,...दो-चार दिन रह लेता। इतनी दूर से आया है। अपने भैया को आ जाने दे।" भाईसाहब प्रातःकाल ही कहीं चले गये थे।

"भाभी", मैं सहसा जाती हुई भाभी को पुकार बैठा।

"हूं...हां, बोल, क्या है ?" वह रुक गई।

"आपको पिताजी के सम्मुख ऐसे नहीं बोलना चाहिए ? वह हमारे पूजनीय हैं। कुछ कह भी दें, तो क्या ? उनका अधिकार है, आखिर उन्होंने हमें पाला-पोसा है। हम ही उनको दुतकारेंगे, यह हमारे लिए अशोभनीय है..." इतना कहकर मैं चुप हो गया।

"तेरे भइया, और सब मुझे ही दोषी समझते हैं। उन्हें कोई कुछ नहीं कहता ? अभी पीछे, तेरे भैया बीमार थे। पूछा इन्होंने हमें ? मैं कहीं से चोरी करूं या मरूं। कहीं से पैसे लाऊं, इनकी बला से ? आखिर तुझे पत्र लिखा, तेरे भैया को बाद में पता चला। जब तेरे पैसे आये। उन्होंने एक बार भी नहीं कहा, 'मुझसे पैसे लो।' कहकर वह चुप हो गई।

"भाभी, उन पर भी जिम्मेदारियां हैं। गांव में बच्चों का खर्चा। पहले मेरा भी था। अब कमाने लगा हूं। वह भी क्या करें, आपको इस विषय को गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए। उनके पास भी कहां से होंगे रुपये। विगत लगातार तीन वर्षों में दो बहिनों की शादी की। आपसे कुछ भी तो छिपा नहीं है ? फिर भी आप उनके प्रति यूं सोचती हैं। देखिए, साल-दो साल बाद वह सेवा निवृत्त हो जायेंगे ? थोड़े समय की बात है। आज उन्हें यह सरकारी मकान मिला है। कल आपको कहीं और खोजना होगा। कब तक यूं चलेगा ? कब तक। आखिर आप लोग मिलजुल कर..." बात बीच में कटकर रह गई। भाई साहब आ गये थे। आते ही बोले—

'अरे तू कहां जाने को तैयार बैठा है ?'

'भैया, गांव जा रहा हूं।'

"इतनी जल्दी ? नहीं, चल छोड़ सब। आज नहीं जाना।" वह अधिकार भरे शब्दों में बोले।

किन्तु मैं उसी दोपहर गांव के लिए रवाना हो गया था। "विजय, मां से कुछ मत कहना, उसका दिल दुखी होगा ?" "भैया आप मुझे...", "अच्छा, अच्छा" बात बीच में काटते हुए वह बोले थे। चल बैठ जा, ट्रेन चलने वाली है।" और मैं गांव चला गया।

आज पुन: एक माह के बाद आया हूं। देखा मकान को ताला लगा है। पड़ोस में पूछा तो मिसेज भक्त ने, 'तुम्हारी भाभी उन्हीं दिनों चली गई थीं', कहकर मुझे मकान की चाबी दे दी। प्राय: पिताजी जाती बार चाबी उन्हें दे जाया करते होंगे। मैं सन्नाटे में रह गया। आखिर भाभी ने अपने मन की कर ही ली।

सांझ को पिताजी आ गये। कुशलक्षेम के उपरान्त उन्होंने बताया तुम्हारी भाभी के विवश करने पर, लड़के को जाना पड़ा। अभी कल दीपक (भाई साहब का लड़का) मिला था। फोड़े-फुन्सियों से भरा हुआ। पूछने पर अधिक हवा भरे गुब्बारे की तरह फूट गया। उसने बताया वहां बड़े मच्छर हैं...ना खुला आंगन, ना अतिरिक्त शौचालय। बड़ी गन्दी जगह है। सब बीमार पड़े हैं। और आकाश मुझे याद करता है और कहता है, दादाजी के पास ले चलो। वह रविवार को आयेगा, कहता था आकाश को भी लाऊंगा, उसी ने तंग कर रखा है। दिन-रात दादाजी-दादाजी की रट लगाये रहता है। बैठे-बैठे रात हो गई, हम आंगन में बैठे थे। उठकर भीतर चले आये।

एक शाम हम आंगन में बैठे थे। और बातों में निमग्न थे। सहसा भाई साहब के तीनों बच्चे आ गये। देखा एक महीने में उनकी क्या दुर्दशा हो गई है। फोड़े-फुन्सियां सूखे सपाट चेहरे। मुझे देखते ही दीपक बोला—"चाचाजी गांव से कब आये आप ? 'एक सप्ताह हो गया, भाभी जी नहीं आयीं ?' मैंने उससे पूछा।

वह कुछ घबराया, पिताजी को डरे-डरे भाव से देखा। लेकिन बोला कुछ नहीं।

"दीपू, बोलता क्यों नहीं ? मैं किसी भावी आशंका की कल्पना से कांपते स्वर में बोला। वह ठीक तो हैं ना...?"

"चाचाजी, मम्मी ज़ीने में खड़ी हैं। दादाजी, हमसे वहां नहीं रहा जाता। हमें वापस बुला लो ना", उसका स्वर भर्रा रहा था।

"अपनी मम्मी को बुला लाओ।" पिताजी बोले।

भाभी ने आते ही पिताजी के चरण छुये और गर्दन झुकाकर एक ओर खड़ी हो गई। दृष्टि लज्जावश धरती में गड़ी जा रही थी।

"बहू अब तुम यहां रहने आई हो ना ? देख रही हो बच्चों की क्या हालत हो गई है। कौन है, जिसकी गलती से यह सब दुर्दशा हुई। बोलो, तुम तो मुझसे नाता ही तोड़ गई थीं।" उनका स्वर गम्भीर होता चला जा रहा था।

"अपने बहू, बेटों, बच्चों से किसे प्रेम नहीं होता ? सब चाहते हैं उनके बच्चे खुशहाल रहें। मेरा क्या, मैं ठहरा कुछ पल का मेहमान, जैसे रखोगी रह लूंगा। बहू, जीवन में फिर ऐसा निर्णय ना लेना। सोचता हूं, युवा पीढ़ी का कैसा विद्रोह है, अपने अभिमान के प्रति, वह क्यों नहीं इकट्ठे रह पाते ? हम भी अपना दुख-दर्द किसे सुनाएं ?"

"पिताजी, मुझे और लज्जित न करें, यह सब मेरे कारण हुआ, मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। अब मुझे ज्ञात हो गया है। अपना अपना, पराया पराया होता है। मुझे क्षमा कर दीजिएगा मुझे क्षमा..." भाभी के अन्तिम शब्द उसकी सिसकियों में खो गये।

पिताजी उसके सिर पर स्नेह भरा हाथ फेर रहे थे, और भाभी की सिसकियां तीव्रतर हो चली थीं।

'बेटी, चुप हो जा।' पिताजी का स्वर भी कांपने लगा था। भाभी भरी बदली के समान बरस कर थम गई और मेरे निकट चली आई।

मैंने उठकर भाभी के चरण छुये। भाभी ने मुझे बताया, सामान का ठेला बाहर दूर ही भैया रोके हुए हैं। वह मुझे ही दोषी मानते हैं। कहते हैं—तूने ही सब किया है, तू ही भोग ? मैं तो परेशान हो गई हूं। कहकर वह चुप हो गई।

उधर पिताजी की गोद में आकाश मचल रहा था, और ना जाने क्या-क्या बातें सुना रहा था। दादा-पोते के मिलन से वातावरण में महक-सी आ गई थी।

"तुम यहां खड़े मेरा मुंह क्या देख रहे हो। सामान क्यों नहीं लाते···" पिताजी ने भरे गले से कहा और···! □

कहानी

इकाई

□ शिव रैना

फक्कड़पने के दिन थे। एम० ए० के बाद आशु छोटी-मोटी नौकरी तलाश रहा था। अचानक 'सिक्किम लॉटरी' के दूसरे नकद इनाम ने उसकी तकदीर के धारे मोड़ दिए। रकम हाथ में आते ही, उसने तीन काम किए। बीस हजार की रकम कुछेक विश्वस्त अधिकारियों में बांटकर, उसने अपने लिए एक बढ़िया नौकरी लगभग सुरक्षित करवा ली। साठ हजार रुपये एक बड़े बैंक में जमा करवा दिए। शेष रकम के बढ़िया कपड़े-लत्ते बनवाकर, वह मसूरी चला गया। यात्रा बेहद सुखद व प्रफुल्लक रही।

बहुरंगे फूलों-फलों तथा नजरों-नजारों से महकता हिल-स्टेशन, देशी-विदेशी सैलानियों से गुलज़ार था। भव्य पार्क वाले एक महंगे डॉक-बंगले में टिका आशु। वह उस समय मसूरी के सबसे भाग्यवान, सबसे प्रसन्न पर्यटकों में शुमार किया जा सकता था। कॉफी की एक गर्मागर्म प्याली तक में, आशु को दो बोतल शराब का नशा मिल रहा था। हर कोमल दृष्टि उसे अपनी ओर मुख़ातिब लगती। कण-कण अच्छा लगता।

डॉकबंगले में आधी रात को आशु ने एक अजीब-सा सपना देखा। नींद उचट गई। कमरे में दिल न लगा। घबराहट-सी महसूस हुई। वह तुरन्त कमरे से निकलकर डॉकबंगले के पार्क में आ गया। बहुरंगा, सुरम्य पार्क सुनसान पड़ा था। पौने तीन बजे थे। गुलाब की सघन झाड़ियों से घिरे, एक हरे बेंच पर आशु लेट गया। पार्क के निस्तब्ध माहौल में एक बेपनाह हुस्न था। आशु सिगरेट सुलगाकर, भविष्य के सुनहले विचारों में डूब गया। थोड़ी देर बाद उसे गहरी नींद ने घेर लिया। रात फिसलती रही।

सुबह का तारा निकलने में थोड़ा समय ही शेष था कि सुनसान पार्क में एक लंबी-सी छायामूर्ति ने प्रवेश किया। गुलाबी रंग की पारदर्शी 'नॉइटी' पहिने, यह एक नवविवाहिता युवती थी। उसके हाथ में एक नन्हीं-सी टॉर्च थी। वह अभी-अभी डॉकबंगले के एक कमरे में से निकली थी। सुंदरी ने झिझकते हुए, दबे पांव, पूरे पार्क की एक प्रदक्षिणा ली। गुलाब की झाड़ियों के पास सुन्दर-स्वस्थ आशु को सोया देख, वह चौंक पड़ी। उसने जान-बूझकर, टॉर्च की रोशनी आशु की आंखों पर डाली। आशु की नींद खुल गई। वह बड़बड़ाया, "क···कौन है? कौन है आप?" वह आंखें मलता उठ खड़ा हुआ।

"जी, मैं भी एक सैलानी हूं। यहीं ठहरी हूं। कमरे में उमस थी, इसलिए खुली हवा में

चली आई !" मधुर स्वर में युवती बोली। वह बेबाकी से बेंच पर बैठ गई। उसकी बादामी आंखों में कई पहेलियां थीं।

आशु ने चमत्कृत स्वर में कहा, "ताज्जुब है। अकेली ही आप इस निस्तब्धता में बाहर आ गईं ! ख़ैर। वैसे डॉकबंगला पूरी तरह सुरक्षित है। यहां सम्भ्रांत लोग ही ठहरे हैं। फिर भी, मैं यह समझता हूं, कि बेचारी नारी चंद्रलोक में भी सुरक्षित नहीं है।"

नवोढ़ा ने अपने दोनों हाथ नॉइटी की लंबी जेबों में ठूंसकर कहा, "ओ, आप आदमी काफी दिलचस्प लगते हैं ! चलिए, थोड़ी देर आप ही से गपशप करते हैं। क्या आपको मालूम है, कि नारी प्रगति की लगभग हर दौड़ में प्रथम आकर भी, असुरक्षित क्यों है ?"

"जी, हां। मुझे मालूम है।" आशु ने पॉर्क के मद्धिम प्रकाश में नवयुवती के सुडौल अंगों, तितैया-सी कमर और लंबे बालों को गहरी नज़र से ताककर कहा, "नारी की असुरक्षा का कारण है पुरुष की "श्रेष्ठता की भावना", पुरुष की मूर्खतापूर्ण जल्दबाज़ी ! पुरुष में सब्र और सच्ची सरलता मिश्रित ईमानदारी हो, तो नारी स्वयं आत्मसमर्पण कर सकती है।"

नवयुवती ने आशु को प्रशंसापूर्ण नज़रों से ताककर कहा, "आप दार्शनिक हैं या देश के भावी नेता ?" वह मुस्कराने लगी।

आशु ने जवाब दिया, "मैं मध्यमश्रेणी का एक बेकार नवयुवक हूं, मादाम। मैं एक अच्छे नागरिक की भांति जीना और एक अच्छे नागरिक ही की भांति मरना चाहता हूं। मैं समझता हूं, कि स्त्री और पुरुष किसी युग में दो शरीर न होकर, एक ही शरीर थे ! पुरुष की बेवफाई के कारण, उस पूर्ण शरीर के दो हिस्से हो गए। श्रेष्ठतर हिस्सा स्त्री को मिला। तभी उसे अंग्रेज़ी में 'बैटर हॉफ' (श्रेष्ठतर हिस्सा) कहा जाता है। आज भी ये दोनों हिस्से पहली नज़र में एक-दूसरे की ओर खिंचते हैं; परन्तु पुरुष की बुराइयों के कारण, वे मिलकर भी स्थाई रूप से एक नहीं हो पाते ! अब मुझे ही देखिए। इस सन्नाटे और एकान्त में आपको अचानक सामने पाकर, मुझे तनाव ने घेर लिया है ! बदन का सारा लहू मेरी कनपटियों की ओर दौड़ रहा है। मेरा पौरुष जादुई रफ्तार से, आपकी ओर लपकना चाहता है···!" आशु ने शुष्क होंठों पर जीभ फेरी।

"तो क्या हुआ ? यह तो प्राकृतिक बात है !" सुन्दर नवयुवती ने पूरी शोखी से, ये शब्द यों उगले, जैसे किसी सिने-निदेशक ने कहलवाए हों। जैसे ये चन्द शब्द बोलने के लिए ही, वह पार्क में अकेली आई हो। आशु को लगा, उसकी 'रोमांटिक लॉटरी' भी लग गई हो ! उसकी प्यासी दृष्टि युवती के चांदी-जैसे सुघड़ अंगों से फूटती, मादक तरंगों पर केंद्रित हो गई। इससे पहले कि आशु अपनी उच्छृंखलता का प्रदर्शन कर पाता, नवयुवती के ग्रांडियल पति ने थोड़ी दूर से आवाज़ लगाई, "रोज़ी डॉलिंग ! अब लौट आओ, प्लीज़ ! तुम जीत गईं ! बधाई हो !"

युवती ने आशु के कंधे थपथपाए और वह बेदिली से लौट गई। उसके चेहरे पर उदासी की स्याही थी।

आशु का तन-मन भी उदास हो गया—जैसे वनवास दे दिया गया हो। पूरा दिन उसका मूड ऑफ रहा।

रात को आशु डाकबंगले के कमरे में नाइट-सूट पहनने लगा, तो कमरे में आंधी की तरह प्रविष्ट होकर, रोज़ी ने याचनापूर्ण स्वर में कहा, "क्या आप मुझ नवविवाहिता से शादी कर सकते हैं ? तलाक का प्रबंध मैं कर लूंगी ! दरअसल मेरा पति परले दर्जे का झक्की और पागल आदमी है ! वह अजीबोगरीब शर्तें बांधकर, मुझे रोज़ रात को कमरे से बाहर निकाल देता है···!"

आशु को यह बात बाद में मालूम हुई, कि रोज़ी उसी अधिकारी की इकलौती बेटी है, जिसने रिश्वत लेकर, उसे राजपत्रित नौकरी दिलवाई थी ! □

कश्मीरी भाषा पर मध्य एशियाई भाषाओं का प्रभाव

□ डॉ० बदरीनाथ कल्ला

अन्त: साक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्य के आधार पर प्राचीन काल से कश्मीर का सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध मध्य एशिया के साथ रह चुका है। पुरातत्त्व वेत्ताओं के अनुसार दोनों देशों की सभ्यता में साम्य हमें हज़ारों वर्षों के बाद इस समय भी दिखाई देता है। पाषाणयुगीन भूर्जहोम (भूर्जाश्रम) के उत्खनन से प्राप्त अस्त्र-शस्त्रादि मध्य एशिया के साथ प्राक्-ऐतिहासिक सम्बन्धों का परिचय कराते हैं। कश्मीर के सुप्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण के अनुसार कश्मीर का मोट देशों के साथ राजनैतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत पुराना था। यह तथ्य निर्विवाद रूप से माना जाता है कि कश्मीर तथा मध्य एशिया के पारस्परिक सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने में यहां के बौद्धभिक्षुओं का योगदान उल्लेखनीय है। मध्य एशिया से कुषान, तुर्क, हूण, शक, मुगल तथा अफगानों के आगमन ने इस धारावाहिक कड़ी को स्थिर बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। कश्मीर का मध्यएशिया के साथ सम्बन्ध होने के कारण यहां की सभ्यता तथा संस्कृति का प्रभाव आज भी हमें स्पष्ट रूप से अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है। यहां की भाषा व साहित्य पर मध्य एशियाई भाषाओं, विशेषत: तुर्की तथा फारसी भाषाओं का प्रभाव कब और किस तरह पड़ा? इतिहास के परिप्रेक्ष्य में इस लेख में इसी विषय पर विचार किया जायेगा।

कुषान दौर के बाद, कार्कोट वंश के विख्यात सम्राट ललितादित्य ने अड़तीस साल—६९८-७३६ ई०—तक कश्मीर में शासन किया। इसकी पुष्टि विदेशी इतिहासकारों ने भी की है। इसका पहला और प्रसिद्ध अभियान कान्यकुब्ज (वर्तमान कन्नौज) के शासक यशोवर्मन के विरुद्ध था। राजा यशोवर्मन को चीनी दस्तावेजों के अनुसार सारे मध्यभारत का शासक माना गया है। इन चीनी दस्तावेज़ों में इसका नाम ए-द्धा-कोन-झा दर्ज है। कश्मीर के सम्राट ललितादित्य ने यशोवर्मन को परास्त किया और उसको सिंहासन से उतार दिया। इस विजय से उन्होंने वीर योद्धा के रूप में सारी दुनिया में अपनी धाक जमायी। उन्होंने केवल मध्यभारत तक ही अपना अभियान सीमित न रखा अपितु प्राकृतिक कठिनाइयों की ओर ध्यान न देते हुए वे कश्मीर

के पश्चिम तथा उत्तर की ओर आगे बढ़ते गये। उस समय उन्हें सामान पहुंचाने के साधन सुलभ थे। इन विषम परिस्थितियों में भी वह वीर सेनानी की तरह अग्रसर हुए। उन्होंने जालंधर और वर्णोत्स (वर्तमान पुंछ) को अपने राज्य के साथ मिला दिया। बाद में वे सिन्धु नदी को पार करके काबुल घाटी के नीचे गान्धार (कन्द हार) की तरफ चल पड़े। परिणामस्वरूप वे वहां के राजकुमारों को अपना दास बनाने में सफल हुए। उन्होंने कई राजकुमारों को अपने पास कश्मीर बुलाया और उन्हें अच्छे पदों पर नियुक्त किया। कल्हण इस बारे में आगे लिखते हैं कि ललितादित्य ने सारे हिन्दुस्तान में 'दिग्विजय' का डंका बजा दिया। कहा जाता है कि उन्होंने पूर्व में बंगाल से उड़ीसा तक सारे मुख्य सूबे, दक्षिण में काठियावाड़ तक और पश्चिम में अफगानिस्तान तक अधीन किये। इस कश्मीरी सम्राट ने ओक्सस नदी के निकट तुर्किस्तान व बदख्शान के राजाओं को हराया। वे अपने साथ चिङ्कुण नाम के प्रतिभा-सम्पन्न तुर्की युवक को लाये और उसे अपना मंत्री नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अफगानिस्तान के शाहयों तथा अन्य राजकुमारों को भी उच्च पदों पर प्रतिष्ठित किया। जब उन्होंने तिब्बत पर दावा बोल दिया तो उन पहाड़ी शासकों को कर (खराज) देने के लिए विवश किया। इस तरह उनका राज्य पूर्व में बंगाल तक दक्षिण में काठियावाड़, उत्तर में तुर्किस्तान तक और पश्चिम में अफगानिस्तान तक फैल गया।

ललितादित्य के बाद कश्मीर के विख्यात शासक हर्ष (१०३८-११०१ ई०) ने अपनी सेना में बहुत से तुर्कों को भर्ती किया। उसके विषय में कहा जाता है कि वह इस्लाम की शिक्षा से प्रभावित हुआ था जिसके कारण उसने मूर्तिपूजा का विरोध करके यहां की मूर्तियों तथा मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसीलिए कल्हण उसे मुरुष्क की उपाधि देता है। कालान्तर दूसरे राजा भिक्षाचार (११२०-११२२) ने भी सुस्सल के विरुद्ध कई तुर्कों को नियुक्त कर दिया। इस तरह हिन्दू शासन के दौरान यवनों का प्रभाव कश्मीर में पड़ने लगा। मुसलमानों का पहला प्रसिद्ध सूफी जो कश्मीर में प्रविष्ट हुआ, बिलालशाह अथवा बुलबुलशाह था। राजा सुहदेव के समय वह एक हज़ार अनुयायियों के साथ तुर्किस्तान से कश्मीर आ गया। सुहदेव के शासनकाल में (१३०१-१३२० ई०) कश्मीर के बहुत लोग यवनधर्म में दीक्षित हुए थे। यूरोप के प्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो ने भी १२७७ ई० के दर्मियान कश्मीर में मुसलमानों की चर्चा की। उक्त उदाहरणों को दृष्टि में रखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि कश्मीर में इस्लाम के आने से पूर्व मुसलमानों का सांस्कृतिक प्रभाव यहां पर पड़ा था।

चौदहवीं शती में बाहर से कश्मीर में मुसलमानों के अनेक दल यहां आये। सुल्तान सिकन्दर (१३८९-१४२४ ई०) के शासन काल में सैकड़ों सादात, (सईद) संत, फ़क़ीर आदि तैमूर लंग के अत्याचार से त्रस्त होकर मध्य एशिया तथा ईरान से यहां आकर बस गये। सिकन्दर ने बाहर से आये हुए मुसलमानों के साथ अच्छा वर्ताव किया और उन्हें जागीर आदि देकर उत्साहित किया। सईद अली हमदानी का पुत्र सईद मुहम्मद हमदानी सात सौ सईदों के साथ यहां प्रविष्ट हुआ। इस प्रकार मध्ययुग में कश्मीर में सूफीमत के संप्रदाय-नकशबन्दी, सुहरावर्दी, क़ादरिया, नूरबख्शी आदि आकर यहां बस गये। अपनी संस्कृति का प्रचार व प्रसार करने के लिए उन्होंने तुर्की तथा फारसी भाषाओं का प्रयोग किया।

राज्य भाषा की समस्या : संस्कृत का ह्रास

मुसलमानों के शासन काल में संस्कृत ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान धीरे-धीरे खो दिया।

अब फारसी भाषा ही संस्कृत के स्थान पर राज्यभाषा घोषित हुई। कल्हण के उत्तरवर्ती प्रसिद्ध इतिहासकार जोनराज की राजतरंगिणी से ध्वनित होता है कि वे फारसी भाषा के विकास तथा संस्कृत के ह्रास को देखकर कल्हण की राजतरंगिणी के समान अपने इतिहास ग्रन्थ का नामकरण राजतरंगिणी ही करते हैं जिससे पाठक आकृष्ट होकर राजतरंगिणी के समान इसका चर्वण (रसास्वादन) कर सकें।

शाहमीरी वंश, चकवंश, मुगल, पठान, सिक्ख तथा डोगरा शासन कालों में फारसी ही राज्य भाषा रही। इस प्रकार इन दौरों में संस्कृत का वर्चस्व समाप्त हुआ। फलस्वरूप पांच सौ वर्षों में कश्मीर के साहित्यकार मध्य एशियाई भाषाओं, विशेषतः तुर्की तथा फारसी भाषाओं, से अत्यन्त प्रभावित हुए। इस संदर्भ में क्षेमेन्द्र की रचना 'लोक प्रकाश' फारसी भाषा के प्रभाव से अछूती न रही। उदाहरण के रूप में क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शती) की कृति में से एक उद्धरण यहां प्रस्तुत किया जाता है।

'श्री बहिलाहोरान्तरे ज्यहानवादके आगरान्तरे-भुट खुज्यां अमुकपादः श्रीकाश्मीरान्तरे बलाडेमठेय—निवसमानस्थित अमुके तथा अमुकेन सलामा बन्दगी करणेयम्। करणपूर्वं कुशलितं—यथा इह अस्माकं अद्यदिनं तावत् विधिप्रसादात् आरोग्यं स्थितं। अथवा सहेसलामते काङ्क्षमानहार स्थितम्। इतः खुज्यः अमुक हस्ते लब्धितं चां मोटिका त्रिशकम्। एषां विभागः तराहदार चां मोटिदशकं १० पज्जारंगे यां मोटिदशकं श्वेत चां मोटिविंशकं २०१ द्विकुङ्कुममन दशकं १०, मुटचादर विंशकं २०, कुङ्कुममर्वशतमेकं १००, कस्तूरिका नाभिसप्तकं ७, मिर्च झरं पञ्चकं ५, लामाचादरिका द्वयं, एतद्वस्तुभावं ततः परीक्षित्वा तु लिखित्क ग्राहनोयं। खस्मानं श्रेष्ठ प्रकोरणीयं प्रतीचे सत्वरं लेखचीरिका कस्यापि हस्ते लब्धनीयं। चेतसि भूतात् एतद्वस्तुभावं विक्रीरित्वा, सौदाकृते किलेकम्भमन चत्वारिंशकं लब्धनीयं।

तोसमनफम्भ एकं द्वयटं वा अलच्यं वा मलमलि वा०।

इस गद्य भाग में फारसी भाषा के शब्द—बंदगी (इसी शब्द से संस्कृत का वन्दना मिलता-जुलता है) खुज्या, चादर, सौदा, कम्ब, मलमल आदि पाये जाते हैं। शेष शब्द अरबी भाषा के जैसे तोस, सलाम, सही, सलामत आदि हैं। यहां यह बात ध्यातव्य है कि सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में 'लोक प्रकाश' ही एक ऐसी पुस्तक है जो मध्ययुगीन फारसी भाषा से अधिक प्रभावित है।

कश्मीरी साहित्य की प्रथम कवियत्री ललद्यद (चौदहवीं शती) से लेकर आज तक जितने भी कश्मीरी साहित्यकार हुए हैं, उनकी विभिन्न रचनाओं पर फारसी भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। ललद्यद के वाखों (वाक्, वाक्यों) तथा नुन्दऋषि के श्रुकों (श्लोकों) में मणिकांचन संयोग के समान यह भाषा कैसे शोभा देती है, इनके उदाहरणों से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। दृष्टांत के रूप में निम्न दो वाख प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) लल बु चायस स्वमनु, बाग बरस
वुछुम शिवस शखत त मीलिथ वाह।
तेत्य लय करम अमृत सरस
जिन्दय मरस स्य करि क्याह?

(२) ट्योठ मुदुर तय म्यूठ जहर,
यस यूत दुनुख जतन बाव।
येम्य यथ केरय कल त कहर,
सु तथ शहृतस वोतिथ प्यव॥

इन दो वाखों में बाग, जिन्दय, जहर, शहर—ये शब्द फारसी भाषा के हैं।

इसी प्रकार नुन्दऋषि के दो श्रुक द्रष्टव्य हैं—

(३) येति तु मे चय तति मे चय
मेचे करतम गुलजार।
सोरी त्राविथ रोट्ख म्य चय,
मे चय हावतम दीदार ॥

(४) बुलबुल पोशि वारे गारन
म्वगुल गारन हुनी वास
सह शाल शिनी लाये गारन
खर छारन गुह्य त ल्यद वास ॥

१. अर्थ—मैं लल्ला, जब स्वमन रूपी बाग के द्वार से भीतर गई अर्थात् जब मैं अन्तर-मुख हुई तो देखा शिव शक्ति से मिला हुआ था, मैं आनन्द मग्न होकर वहीं शिव शक्ति संगम के साक्षात्कार रूप अमृत-सर में विलीन हो गई। इस दिशा में मैं जीते-जी मर गई, अर्थात् जीवित अवस्था में मैंने संकल्पमय विषय वासनाओं का परित्याग किया। मुझे अब किसकी चिन्ता है?

२. अर्थ—कड़वा मीठा है और मीठा विष। जो जितना यत्न कर सका तथा जिसने जिस (ध्येय को पाने) की दत्तचित्त होकर आराधना की, वह उस परम ध्येय को पाने में सफल हुआ।

३. अर्थ—यहां भी मिट्टी ही है, वहां भी मिट्टी ही है। मेरी मिट्टी ही से फूल खिला। यहां भी तू ही है वहां भी तू ही है। मेरे अस्तित्व को तुम्हीं फूल की तरह खिलाओ। सभी को छोड़कर मैंने तेरे ही दामन को थामा। मुझे अपने दर्शन से अनुगृहीत करो।

४. अर्थ—बुलबुल वाटिकाओं में फूलों को ढूंढ़ता है। उल्लू निर्जन स्थान को अर्थात् शून्य को ढूंढता है। शेर तथा बघेरा गीदड़ जंगलों को ढूंढ़ता है। गधा मलमूत्र से ही रुचि रखता है।

इन दो श्रुकों में फारसी भाषा के शब्द—गुलजार, दीदार, बुलबुल तथा खर हैं।

हिन्दुओं के शासन काल में कश्मीरी में कविता लिखने के जो विविध रूप—वाखों, वचनों तथा श्रुकों में पाये जाते थे, मध्ययुग में वह परम्परा तथा परिपाटी प्रायः समाप्त हुई। फारसी के प्रभाव से प्रभावित होकर यहां के साहित्यकारों ने फारसी शैली अपनाई। महमूद गामी (१७६५-१८५५ ई०) कश्मीर का सुशिक्षित प्रसिद्ध शायर हो गुजरा है। उसने सबसे पहले कश्मीर में फारसी शैली अपनाई तथा फारसी भाषा की लोकप्रिय विधाओं को प्रचलित कर दिया। इन पद्यात्मक शैलियों में मसनवी, गजल, नात, मनकबत, रुबाई तथा क़सीदा हैं। महमूद गामी की मसनवी ईरानी कहानियों पर आधारित है। 'युसुफजुलेखा' उसकी प्रसिद्ध मसनवी है जिसका अनुवाद १८१४ ई० में जर्मन में हुआ है। बाद में यह परम्परा जारी रही। फलतः वल्ली अल्लाह मत्तू तथा मकबूल शाह क्रालवारी आदि ने भी मसनवियां लिखीं। इनमें मकबूलशाह क्रालवारी की 'गुलरेज' बहुत ही लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध है।

इसके अतिरिक्त कश्मीरी भाषा में हमें इस समय भी मध्य एशियाई भाषाओं की तुर्की तथा फारसी भाषाओं की शब्दावली मिलती है जिसका प्रयोग दैनिक व्यवहार में किया जाता है जैसे—

तुर्की शब्द	फारसी शब्द	कश्मीरी शब्द	अर्थ
क़ाश	क़ाश	काश	टुकड़ा
क़ातर	क़ातर	कातुर	खच्चर
तोब	तोप	तोफ़	तोप
कैंतोन	—	कयतोन	बाडरं

कश्मीरी भाषा में फारसी भाषा की शब्दावली उसी ध्वनि तथा उसी अर्थ में प्रयुक्त होती है जिस रूप, ध्वनि तथा अर्थ में फारसी भाषा में प्रयुक्त होती है। निम्न तालिका से इसका स्पष्टीकरण हो सकता है, जैसे—

फारसी शब्द	कश्मीरी शब्द	अर्थ
गाव	गाव	गाय
आब	आब	पानी
कार	कार	काम
खुश	खवश	खुश

इसी प्रकार फारसी भाषा के उपसर्गों तथा प्रत्ययों का प्रयोग कश्मीरी भाषा में होता है जैसे—बे-पछ=बेपछ (अर्थ—अविश्वस्त) बे+जुव=बेजुव (अर्थ – जीवनरहित) फारसी में 'बे' उपसर्ग का अर्थ रहित है। 'बा' उपसर्ग का अर्थ 'समेत' है जैसे – बा+रसूख =बारसूख (अर्थ—प्रतिष्ठित) 'बद' उपसर्ग का अर्थ खराब है जैसे बद+जाथ=बदजाथ (अर्थ—दुष्ट) 'कम' उपसर्ग का अर्थ 'थोड़ा' है जैसे – कम+जान=कमजान (अर्थ—कम जान-पहचान वाला) इसी प्रकार फारसी प्रत्ययों के अन्य उदाहरण भी कश्मीरी भाषा में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार फारसी के दानी, कार, मन्द आदि प्रत्ययों का भी प्रयोग कश्मीरी भाषा में होता है। उदाहरण के रूप में कुछ शब्द दिये जाते हैं – मसालदान्य, चायदान्य, कलमदान, शमअदान, अदाकार, फनकार, कलमकार, अकलमन्द, हुनरमन्द आदि। फारसी के विशेषणों को भी कश्मीरी भाषा ने आत्मसात् किया है, जैसे—जालसाज, खराब, सियाह, जवान, चुस्त, सुस्त, नादान आदि। इन विशेषणों का प्रयोग कश्मीरी भाषा में इसी रूप में होता है। इसके अतिरिक्त फारसी की उत्तरावस्था तथा उत्तमावस्था का प्रयोग कश्मीरी में समान रूप में होता है जैसे—बदतर, बदतरीन आदि।

उक्त प्रमाणों को दृष्टि में रखकर हम यह कह सकते हैं कि मध्य एशियाई भाषाओं में से उक्त दो भाषाओं की अमिट छाप कश्मीरी भाषा व साहित्य पर इस समय भी नजर आती है। हम भी दैनिक व्यवहार में इन शब्दों का प्रयोग स्वच्छन्द रूप से करते रहते हैं।

यहां पर यह कहना असंगत न होगा कि कश्मीर में फारसी के व्यापक रूप को देखकर ही ईरान के लोगों ने कश्मीर को 'ईरानि सगीर' (छोटा ईरान) के नाम से सम्बोधित किया। कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रभावित होकर उन्होंने कश्मीर का ऐसा नामकरण नहीं किया अपितु कश्मीर में फारसी के बहुमुखी विकास को देखकर ही इसे इस विशेष उपाधि से समलंकृत कर दिया। □

सम्बोधन—१

□ राजीव जैन

किसे आवाज़ दूं
कब प्रतिध्वनि लौट सकी है
सन्नाटे में
ज्योंही हरी बत्ती देख कर
मैं चलने लगता हूं
लाल बत्ती जल उठती है
और पीली बत्ती देख
मेरा अस्तित्व
मुझसे अलग चलने लगता है
और भीड़ से कटा कटा
मैं अकेला
फटी कमीज़-सा अंधे खूंटे से
लटक जाता हूं
खुद को सम्बोधित करता हुआ
और प्रतिध्वनि पा जाने के पागलपन में
बूढ़ों की तरह खांसता
खांसी को
मैं सम्बोधन का उत्तर समझने लगता हूं।

□

सम्बोधन—२

किसे आवाज़ दूं
कब प्रतिध्वनि लौट सकी है
सन्नाटे में
हां लौट सकी हैं केवल
नाचघर में बन्द मेरी असफलताएं।
टूटी हुई तलवार की दुर्बलताएं
पिंजरे में बन्द तोता-मैना की कथाएं
मुझे डस कर भी ये डस न सके
लेकिन जहर धीरे-धीरे फैल रहा है
मृत्यु की ज़मीन पर
ज़िन्दगी का नन्हा बीज बना रहने का दर्द
तुम खाद दे सकोगे··· ?

□

केवल आभास

□ संतोष

यह कैसा उपहार
जो कल रात भर तुम्हारी चौखट पर
उतावली के साथ रुककर
मुझे मिला ?
नदी जो मेरे अंदर थी—
सूख गई
रूख गई गरिमा
जो मेरे बाहर थी
और मुर्झा गई
मेरी साधना अब तक की ।

मैं चीखा नहीं, चिल्लाया नहीं
केवल जी भरकर पछताया ।

मेरे रक्त से अंकित रेखाओं पर
तुमने निर्मित किया भवन अपना
मेरे प्रश्न करने पर
तुमने हथियार उठाया
मेरी सीमा को रौंदकर
वार किया तुमने
और मैं सोया नहीं, खोया नहीं
हां, जी भर रोया ।

अपने श्वास की दुर्गन्ध
कांच के भवन में बांधकर
चीथड़ों से उभरी मेरी
दरिद्रता को
तुमने नग्नता कहा
और मैं रोया नहीं, बौखलाया नहीं,
थोड़ा-सा सकुचाया।

और आज तुम्हारे कांच के भवन
तुम्हारी अपनी ही आंच से पिघल गये
तुम बेघर होकर
ज़खीरे की घुटन से बचकर
मांगने आये मेरी चौखट पर—
दरिद्रता का आभास !
मैंने पाया नहीं, खोया भी नहीं,
अपना
(तुच्छ) विश्वास।

□

परछाइयां

□ राजेन्द्र रैणा

न जाने क्यों लगातार
चलती-फिरती ये परछाइयां
मेरा पीछा करती हैं
सन्देह की आंखों से घूरती हैं

मैं
बर्फ़ पर काले धब्बे-सा
परछाइयों के नीचे आया
बुझ-सा गया हिस्सा देखकर
क्रोधित हो उठता हूं

न जाने क्यों
कांपते हाथों से
भयभीत-सा होकर
उस बेरंगे चित्र को
छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित करता हूं
जो अपनी विशालता जतला कर
मुझे डराने की कोशिश कर रहे हैं

न जाने ये चित्र ऐसे क्यों लगते हैं
जैसे फोटो-एन्लारजर पर
प्रकाशित तो हुए हैं
पर उन्हें 'केमिकल' में न डुबोया हो
ये
शून्य-से दिखते
आकाररहित कागज़ हैं।

मुझे पीड़ित करते हैं
परछाइयों से परे
शून्य के अवशेष
□

भीख

□ अशोक खामोश

इससे पहले कि ज़माने की
कानकार्ड की स्पीड से चलती हुई हवा
मेरे भाग्य को गंजा कर दे;
इससे पहले कि 'कॉउन्ट-डाउन' के समय का अट्टहास
मेरे दांतों के बीच पिसे गुस्से को पोपला कर दे;
इससे पहले कि प्रदूषित आकाश के नक्षत्रों के प्रभाव से
मेरे दिल की हरेक धड़कन खांसने लगे;
इससे पहले कि मेरे पेट में
हिरोशिमा का जमा हुआ सारा खून
फिर उबलने को हो आए;
इससे पहले कि मेरे हाथ-पैरों को
जरा-जरा से विस्फोटों पर भी कांपने की आदत हो जाए।
इससे पहले कि 'खलीज' की सारी रेत
मेरी आंखों के तिलों की नम्बर प्लेटें ढक ले—
तुम
मेरे वैराग्य को बांध लो !

मुझे वह शै दे दो जो संथालों को
उत्तरी भारत के जंगल देते हैं,
जो हब्शियों को जोहन्सबर्ग की कानें देती हैं,
जो फिलिस्तीनियों को अपने कन्धों पर से लटकती बंदूकें देती हैं।

मेरे हाथों में कोई ऐसी पोटली थमा दो
जिसकी गुत्थियां सुलझाते-सुलझाते अंधेरा छा जाए
और मैं कभी न आने वाले कल के
कभी न आने वाले सूर्य की प्रतीक्षा में ऊंघते-ऊंघते
सो जाऊं।

मंज़िल

□ अरुण बजाज

थक चुका है मेरा शरीर,
फिर भी,
टूटे पांव से,
चलता हूं,
अपनी मंज़िल की ओर !

यह भी इन्द्र जाल है,
कि
मंज़िल के निकट पहुंचने पर भी,
हो जाती है,
मंज़िल अदृश्य !
जैसे—
कोई प्यासा
रेगिस्तान में,
देखता है जल का सोता,
बहुत दूर, बहुत दूर,
निकट आने पर,
पाता है केवल रेत ।

दुख—
यह,
कितना जुड़ा है मुझसे
कि,
इसे ही,
हर बार,
है माना मैंने,
सुख !
जख्मी सैनिक की तरह
साहस बटोरकर
कूद पड़ता हूं,
दुःखों के युद्ध क्षेत्र में,
ताकि,
प्राप्त करूं
सुखमय विजय,
फिर भी हर बार,
खो देता हूं,
अपनी मंज़िल
और
टूटकर,
एक बार फिर
चल देता हूं,
नयी मंज़िल की ओर ! □

स्नेह तुम्हारा

□ रत्न कलसी

कठिनता से साधा
कमर को था मैंने
एहसां ने तेरे
झुका दिया है

लौटा रहा हूं
स्नेह को तुम्हारे
प्यार का दीपक
बुझा दिया है।

बिछुड़ी है जब से
किरण अपने सूरज से
मैंने अंधेरों को
अपना लिया है।

□

लंगड़ी बैसाखियाँ

डॉ० निर्मल चोपड़ा

उफ़ ! कितनी घुटन है यहां। उठकर कमरे की खिड़कियां खोलती हूं लेकिन घुटन फिर भी कम नहीं होती। होगी भी कैसे? यह तो मेरे अन्दर की घुटन है, मेरे भीतर का अन्धेरा, जो कभी छंटता ही नहीं अपितु परत-दर-परत जमता ही जा रहा है और मुझे अपने परिवेश से बहुत-बहुत दूर लिये जा रहा है। घर में मां, पिताजी और छोटे बहन भाई के रहते हुए भी ऐसा लगता है जैसे मेरा अपना कोई नहीं, सब बेगाने और पराए हैं और इन सबके बीच में मैं अकेली हूं, बिल्कुल अकेली, अपने से ही जूझती हुई।

कितनी बदल गई हूं मैं। बात-बात पर चिढ़ना मेरी आदत-सी बन गई है। बबलू की उछलकूद मुझे अच्छी नहीं लगती। उसे डांटती हूं तो वह सहमा-सा मेरी ओर देखता है। मिनी कोई भी बात करती है तो उसे झिड़क देती हूं। वह अपनी भोली आंखों से मेरी तरफ देखते हुए शायद यही सोचती है कि क्या हो गया है दीदी को। मां की बातों से बुझे मसालों और सरसों के तेल की बू आने लगी है और पिताजी—उनके विचारों से तो मैं कभी सहमत न हुई। यह करो, वह मत करो। सादगी से जीवन बिताओ। ईमानदारी से काम करो। हुंह, भाड़ में गई ऐसी ईमानदारी। उनकी इसी ईमानदारी ने आज उन्हें खाट पर लिटाकर, दमे का मरीज़ बना दिया है और मुझे संघर्ष के रास्ते पर लाकर खड़ा कर दिया है। चाचा जी भी पापा के ही भाई हैं। किस ठाठ से रहते हैं। आलीशान बंगला, कार और अच्छा खाना-पीना। चाचा ने एक छोटे ओहदे पर होकर भी कितनी तरक्की की लेकिन पापा एक अच्छे ओहदे पर रहकर भी कुछ न कर सके। चाचा की दोनों लड़कियां वन्दना और शुची को तो देखो, किस शान से निकलती हैं घर से। दोनों मुझसे बड़ी हैं लेकिन अच्छे कपड़ों और मुंह पर चढ़ी मेकअप की परत के कारण मुझसे कई साल छोटी लगती हैं। और मैं अपने चेहरे पर पड़ी झुर्रियों को गिन सकती हूं और इस चौबीस साल की उम्र में भी इकतीस-बत्तीस साल की औरत लगने लगी हूं। कल जब चाचा ने बताया कि वह वन्दना और शुची की शादी करने जा रहे हैं तो कैसा हो गया था पापा का मुंह। कैसे करेंगे वह मेरी शादी, क्या है उनके पास? कितना गुस्सा आता है मुझे पापा पर। अरे, ऐसी ही ईमानदारी से जीना था तो क्यों की शादी? शादी कर

ही ली तो क्यों किया मुझे पैदा, जब तुम मुझे कोई सुख न दे सकते थे। इस घुटन के अतिरिक्त तुमने मुझे दिया क्या है। और मां—अबला कहीं की। क्यों दिया उसने पापा का साथ, क्यों नहीं उन्हें राह बदलने का सुझाव दिया, क्यों टूटती रही सारी उम्र।

कप-प्लेट की छन् की आवाज़ से मेरी विचार-श्रृंखला टूट जाती है। मां सामने चाय लिए खड़ी है। मैं चुपचाप मां के हाथ से चाय का कप ले लेती हूं और धीरे-धीरे सिप करती हूं। चाय का स्वाद कड़वा-सा लग रहा है लेकिन फिर भी पीती हूं, इस जीवन की तरह जो बहुत ही विषम है लेकिन फिर भी जीती हूं।

"बेटी आज सब्ज़ी क्या पकाएं।" मां मेरे पास बैठते हुए बड़े प्यार से मुझसे पूछती है। "हुं, क्या कहा ?" मैं दूर तक फैली अपनी सोचों से वापस लौट आती हूं। मां अपना प्रश्न फिर दोहराती है। मां की ओर गुस्से से देखती हुई मैं झल्लाकर कहती हूं, "रोज तो यहां पुलाव और पकवान ही पकते हों जैसे। जो भी घर में पड़ा है, बना लो, मुझसे क्यों पूछती हो ?" मां मेरा यह कड़ुवा उत्तर सुनकर थके कदमों को घसीटती हुई चुपचाप रसोईघर की तरफ बढ़ती है। मां को इस प्रकार जाते हुए देखकर कोई चीज आरी की तरह मुझे भीतर तक चीरती है और मैं सोचती हूं—आखिर मां का भी क्या दोष ! उसने भी क्या कभी सुख देखा है ? कभी अच्छा खाया, न पहना। जीवन भर पापा के अधीन रही और अब हम बच्चों की बातें उसे सुननी पड़ती हैं और वह घुट के रह जाती है। मां की घुटन का अहसास कर मुझे पछतावा-सा होता है और मैं रसोईघर की तरफ जाती हूं—मां का हाथ बंटाने।

स्टोव पर दाल चढ़ी हुई है और सामने बैठी मां की आंखें शून्य में देख रही हैं। मेरे क़दमों की आहट सुनकर मां की आंखें मेरी तरफ मुड़ती हैं जैसे बहुत कुछ कह रही हों। अन्दर से पापा के खांसने की आवाज़ आती है। मां मेरी तरफ देखती है, जब मुझे अपनी जगह से हिलता नहीं पाती तो खुद ही उठकर चली जाती है—पापा को सम्भालने।

खाना बन चुका है। मां परोस रही है। बबलू मां को दस बातें सुनाकर ही दाल-चावल खाने पर राजी हुआ है। मिनी ने भी आधे चावल छोड़ दिए हैं। मैं खाना निगल रही हूं। आखिर इस मशीन को चलाने के लिए कुछ तो चाहिए ही। खाने से निवृत होकर सबका बिस्तर ठीक करती हूं। यही तो जीवन रह गया है। सुबह उठना, दिन में घुटना और रात को सोना। और कोई चेंज नहीं, कोई नयापन नहीं। सब आगे निकल रहे हैं और मैं वर्षों से एक ही जगह पर खड़ी हूं—अकेली, उदास-सी।

मैं देख रही हूं बबलू और मिनी गहरी नींद में सो रहे हैं। पापा बेचैनी से करवटें बदल रहे हैं और मां भी अभी सोई नहीं, एकटक छत की ओर देखे जा रही हैं। 'क्या बात है मां ? नींद नहीं आ रही क्या ?" मैं नम्रता से पूछती हूं।

—दांत में आज फिर दर्द हो रहा है इसलिए नींद नहीं आ रही।

—कितनी बार तुमसे कहा कि इसे निकलवा लो लेकिन तुम जैसे सुनती ही नहीं।

—बहुत अनजान बनती हो, निशा। अरे भाई पैसे हों तो निकलवाऊं ना। तुम्हारे पापा ने जबसे खाट पकड़ ली है तबसे जैसे दुर्भाग्य साथ छोड़ता ही नहीं। देखो ना, एम० ए० करके भी तुम्हें कहीं नौकरी नहीं मिलती। घर में चार पैसे ही आ जाते। मां की आवाज़ भर्रा आई है।

वैसे—कहीं मां का संकेत उन रुपयों की तरफ तो नहीं जो चाचा ने कल जाते समय मुझे दिए थे। कहीं मां उन्हें मुझसे छीनकर अपने दांत का इलाज तो नहीं करवाना चाहती। मैं

मन ही मन पर्स में पड़े उन पचास रुपयों को कसकर पकड़ लेती हूं कि यदि पकड़ ढीली पड़ गई तो मां छीन लेगी, दांत के इलाज के लिए। बबलू छीनेगा फटे जूतों की जगह नये जूते खरीदने के लिए। मिनी छीनेगी नया बस्ता लाने के लिए या पापा छीनेंगे अपनी दवाई के लिए। लेकिन मैं उन्हें क्या दूं? मुझे इन रुपयों से वह सूट खरीदना है जो 'ब्लू-फाक्स' के शो रूम में टंगा हुआ है। जिसे पहनकर मैं शुची से भी सुन्दर लगूंगी और वन्दना से भी अच्छी। रात भर यही सूट पहनकर सपनों में मैं घूमती रही—अक्षर के साथ। अक्षर, जो मेरे पड़ोस में रहता हुआ भी मुझसे कितना दूर है। उसकी एक झलक पाने को तरसती रहती हूं।

आज मेरा मूड कुछ ठीक है। नाश्ता करके मैंने अपने फीके पड़े नीले सूट को प्रेस किया और तैयार हुई रेजीडेन्सी रोड जाने के लिए। आज मुझे सूट खरीदना है 'ब्लूफाक्स' से। शो केस में सूट बहुत प्यारा लग रहा है और पर्स से पचास का नोट बाहर आने को मचल रहा है। लेकिन यह क्या? प्राइस स्लिप पर तो एक सौ पचास लिखा हुआ है। कल शायद मैंने एक्साइटमेंट और जल्दी में पचास पढ़ लिया था। मेरा सिर घूमने लगता है। मुझे यह सूट अक्षर की तरह अपने से दूर, बहुत दूर जाता हुआ दिखाई दे रहा है। भारी कदमों से मैं पटरी से नीचे उतरने लगती हूं कि पैर मुड़ जाता है और चप्पल टूट जाती है। बड़ी मुश्किल से पांव को घसीटती हुई थोड़ी दूर बैठे मोची के पास पहुंचती हूं लेकिन मोची चप्पल गांठने से इनकार कर रहा है, "अरे बहन जी, इसमें पहले से ही इतने कील ठोके जा चुके हैं कि अब कोई गुंजाइश ही नहीं।" लेकिन मेरे बहुत कहने पर वह मान जाता है और चप्पल ठीक करने लगता है। कहीं मुझे इस हालत में कोई देख तो नहीं रहा? आस-पास देखती हुई मेरी आंखें अचानक एक जाने-पहचाने चेहरे पर आकर रुक जाती हैं। हां, यह अक्षर ही तो है जो अपने दोस्तों के साथ सॉफ्टी की दुकान पर सॉफ्टी खा रहा है। अरे, यह क्या? उसकी नज़र मुझपर पड़ी। वह मुझे देखकर अपने दोस्तों से कुछ कह रहा है और वे सब भी मेरी ही ओर देख रहे हैं और ज़ोर-ज़ोर से हंस रहे हैं। शायद मुझपर, मेरी स्थिति पर। नहीं अक्षर, नहीं, ऐसे मत हंसो, मत उड़ाओ मेरी बेबसी का मजाक इस तरह। मैं पागल हो जाऊंगी, मर जाऊंगी।

—बहन जी, चप्पल तैयार है। मैं चप्पल पहनती हूं और मोची को पचास पैसे थमाते हुए चल पड़ती हूं। लेकिन कहां? कहां जाना है मुझे? कहां जाऊं मैं? दूर तक अक्षर की ठहाकेदार हंसी मेरा पीछा करती है और यह नया कील मेरे पांव के अन्दर तक चुभता ही चला जा रहा है और जख्म बना रहा है। फिर भी चलती जाती हूं—दिशाहीन-सी। अचानक एक चप्पलों की दुकान के पास पहुंचकर मेरे पांव रुक जाते हैं। क्यों न इन पचास रुपयों से एक नयी चप्पल खरीदी जाए ताकि इस दर्द से मुक्ति मिले। दुकान के अन्दर चली जाती हूं। सेल्जमैन तरह-तरह की, प्यारी-प्यारी चप्पलें दिखा रहा है। कीमत—पचासी, बहत्तर, साठ, पचपन, बावन। पचास तक या पचास से कम कोई नहीं। दो रुपये और होते तो यह बावन वाली खरीद लेती। कितनी विवश हूं मैं, मन मसोसकर रह जाती हूं। पास बैठी महिला अब तक चार जोड़े पैक करवा चुकी है। उसके पैरों की तरफ दृष्टि जाती है। कितनी प्यारी नेल पालिश लगा रखी है। काश, मैं भी लगा पाती। अपने पैरों को पुरानी चप्पलों में वापस डाल रही हूं। 'कौन-सी पैक कर दूं मैडम।' 'मुझे कोई पसन्द नहीं।' सेल्जमैन की व्यंग्यभरी मुस्कान का सामना न करते हुए मैं धीरे से दुकान की सीढ़ियां उतरने लगती हूं।

अब मुझे कहां जाना है? मन में एक बार फिर यही प्रश्न उठ रहा है और पैर बराबर पटरी पर चल रहे हैं। घर—नहीं, अभी नहीं जाऊंगी वहां। कुछ देर दूर रहना चाहती हूं उस

दमघोंट वातावरण से। पैर चलते-चलते अचानक दीपा के घर के पास आकर रुकते हैं। द्वार खटखटाती हूं। द्वार दीपा ही खोलती है। 'हाय, निशू! कैसी हो? बहुत दिनों बाद नजर आई।' अपनी आदत के अनुसार वह मेरी पीठ पर हाथ मारते हुए पूछती है। 'बस ऐसे ही', मैं अन्दर जाते हुए संक्षिप्त-सा उत्तर देती हूं। ड्राइंग रूम में सोफे पर बैठते हुए यही सोचती हूं—यह दीपा भी तो मुझ जैसी ही थी। यह इतना आगे कैसे बढ़ गई और मैं जहां की तहां क्यों खड़ी हूं। यह ड्राइंग रूम···अभी एक साल पहले तो यहां दो खाटें और दो टूटी-फूटी कुर्सियां हुआ करती थीं। लेकिन आज यह सोफा, यह फ्रिज, ये सब ऐश्वर्य के साधन। 'यूं आंखें फाड़-फाड़कर क्या देख रही हो निशा?' कोल्ड ड्रिंक मेरे हाथ में देते हुए दीपा पूछती है। ''यही ना कि यह सब कहां से आया, दीपा कैसे बदल गई? अरे यार, पहले तो मुझे बधाई दे मेरी सगाई की। अब तू यह पूछेगी कि किससे हुई तो यह देख इनसे हुई है और यह सब काया-पलट इन्हीं द्वारा हुआ है।'' फ्रिज पर से एक फोटो उतारकर मुझे दिखाती है—एक बदसूरत-से अधेड़ व्यक्ति का। मैं हैरान होकर दीपा से पूछती हूं, 'प्रफुल्ल का क्या हुआ दीपा, जिसके बिना तुम अपने जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकती थीं।' 'अरे छोड़ यार, किस कगले की बात कर रही है', दीपा बड़ी लापरवाही से बोली, 'आज-कल वह एक स्कूल में मास्टर है। तू ही बता, क्या दे पाता वह मुझे।' फोटो की तरफ इशारा करते हुए दीपा आगे बोली, 'यह जनाब तो इन्डस्ट्रियलिस्ट हैं इन्डस्ट्रियलिस्ट। लाखों में खेलते हैं।' तो दीपा बिक गई है, इस बदसूरत अधेड़ व्यक्ति के हाथों। जीवन से ऐसा समझौता मैं नहीं कर सकती, कभी नहीं। दीपा से जैसे घृणा-सी होने लगी है और अब यहां बैठने का मन नहीं कर रहा है। दीपा खाना खाकर जाने के लिए बहुत आग्रह कर रही है लेकिन मैं दुबारा आने का वादा देकर, घर की ओर चल देती हूं। रास्ते भर मैं दीपा के विषय में ही सोचती रहती हूं। यदि प्रफुल्ल अक्षर जैसा अमीर होता तो क्या दीपा उसे यूं छोड़ देती। एक और ख्याल भी आता है कि फिर प्रफुल्ल ही उसकी ओर क्यों देखता? अक्षर का ध्यान आते ही घर और उससे जुड़ी समस्याएं आंखों के सामने घूम जाती हैं और पैर तेजी से आगे बढ़ने लगते हैं, अखबार वाले भइया की ओर। 'गोपाल भैया, एक एम्प्लायमेंट न्यूज तो देना', पेपर लेने के लिए हाथ आगे बढ़ाती हूं। 'दीदी, आप पहले पिछला हिसाब चुकता कीजिए, आज मालिक को हिसाब देना है।' गोपाल हिचकिचाकर बोलता है। मैं अपना बढ़ा हुआ हाथ पीछे खींचते हुए मरियल स्वर में धीरे से पूछती हूं—'कितना है?' गोपाल एक पुराने अखबार पर कुछ हिसाब लगाकर कहता है—'दो महीने के बयालीस रुपये पचहत्तर पैसे बनते हैं।' मैं मरे हुए हाथों से पर्स में से पचास का नोट निकालती हूं और गोपाल को देते हुए ऐसा अनुभव कर रही हूं कि एक बहुत बड़ा सहारा मुझसे छिन रहा है। गोपाल से बाकी पैसे और एक एम्पलायमेंट न्यूज लेकर पर्स में डालती हूं और आंखों में ढेर सारे आंसू छुपाए घर की ओर चल देती हूं, फिर उसी घुटन का सामना करने जो अब कुछ और बढ़ गई थी।

□

टाइपरॉइटर

☐ अभिशाप

उसका हृदय अब भी कांप रहा था। जरा-सी आहट पर वह चौंक पड़ता, आंखें बन्द कर लेता, भय से पीड़ित मन, लड़खड़ाता शरीर आज सात दिन के पश्चात् भी विचित्र दशा थी उसकी। अचानक क्या हो गया था उसे, कोई भी तो नहीं जानता था। जानता भी कैसे वह तो किसी से बात तक नहीं करता था। सात दिन से नेत्रों से चुपचाप आंसू बहा रहा था—ऐसे आंसू जिन्हें किसी ने देखा भी नहीं—यहां तक कि उसकी पत्नी, बूढ़ी मां का अनुभव भी असफल रहा था। उसके मन में उठती पीड़ा को समझने में। घबराकर कल शाम उसे हस्पताल में भर्ती कर दिया था, तभी उसे ग्लुकोज चढ़ाया जा रहा था।

शायद वह सीधे लेटे-लेटे थक गया था, उसने करवट बदलने का प्रयास किया था किन्तु शीघ्र ही उसे ध्यान हो आया कि वह ऐसा नहीं कर सकता, उसके दोनों बाजुओं पर तो ग्लुकोज की बोतलें लुढ़क रही हैं, वह एक लम्बी सांस लेकर रह गया।

धीरे से गर्दन घुमाकर उसने क्लॉक की ओर देखा। प्रातः के चार बज रहे थे। अभी सूर्य निकलने में लगभग दो-तीन घंटे तो लगेंगे ही, उसने अपने आप से ही प्रश्न किया। सर्दी का मौसम जो ठहरा, उसके पश्चात फिर···वह विचारों में डूबता चला जा रहा था।

ऑफिस वाले भी मुझे देखने आ सकते हैं, कोई न कोई उन्हें बता ही देगा और फिर सात दिन का समय भी समाप्त हो चला है आज का दिन तो अन्तिम था। कल दोबारा वही सब होगा। क्यों न मैं मां को सब कुछ बता दूं, क्या वह मुझपर विश्वास कर लेगी। सम्भव है कि वह यह आघात सहन न कर पाये, उसकी एकमात्र आशा भी टूट कर···।

नहीं, मां से कुछ नहीं कहना है। यदि मां से नहीं कह सकता तो पत्नी से ही कह दूं. आखिर ऐसे वह कितने दिन अकेला ही इस आग में जलता रहेगा। किसी न किसी से तो बात करनी ही पड़ेगी और पत्नी से बढ़कर ऐसा कौन व्यक्ति हो सकता है, जो ध्यान से तेरी बात सुनेगा। हां, यह ठीक है, मैं कमला को सब बता दूंगा। किन्तु वह भी तो एक औरत है···क्या वह भी मां की भांति यह सब जानकर पागल नहीं हो उठेगी—तो फिर मैं किससे कहूं, इन दीवारों से ? आखिर मैंने किया ही क्या है !

मेरा दोष केवल इतना है कि मैं एक चौकीदार हूं। चौकीदार, ऑफिस का चौकीदार, —घर का चौकीदार, यह तो अच्छा है कि मेरा कोई बेटा नहीं, तीनों बेटियां है, नहीं तो मैं उसे कभी भी चौकीदार नहीं बनने देता—इससे कहीं बेहतर है कि सड़क पर पत्थर उठाये··· कुल्ली बना जाये।

रामू काका भी कैसा पागल है, लड़के को चौकीदार बनाने के लिए पांच सौ रुपये दिये। अरे भाई, यह भी कोई नौकरी है! खैर, उसकी इच्छा, इसमें मेरा क्या दोष, मैंने उसे बहुत समझाया था। पर उसने कहाँ मानी थी मेरी बात। जैसे मैं उसका कोई दुश्मन था। खुद पता चल जायेगा चौकीदारी क्या होती है। चौकीदार से चपरासी की नौकरी कहीं हजार गुणा बेहतर है। छुट्टी के पश्चात् उसे कोई नहीं पूछ सकता। जो जी में आये करे। दफ्तर में भी तो वह क्या काम करता है। किसी को पानी पिला दिया, किसी के लिए चाय ले आया, बाबू लोगों के कमरे से फाइलें उठाईं तो साहिब के कमरे में रख दीं और साहिब की मेज से उठाकर वापस उनके कमरों में। भला यह भी कोई काम है! हूं, चपरासी के तो मजे ही मजे हैं।

मैं भी तो एक दिन चपरासी बना था। चपरासी क्या मानो उस दिन तो मैं बादशाह था। साहिब के कमरे के बाहर स्टूल पर बैठा···बड़े-बड़े अप-टू-डेट तो पहले मुझे ही सलाम करते थे। क्या मजाल थी कि कोई मुझे सलाम किये बगैर अन्दर चला जाये। किस अन्दाज से कहता था मैं उस दिन—साहिब ने कहा है किसी को अन्दर मत आने देना – मिटिंग चल रही है। आप लोग समझते क्यों नहीं···। कितने ही लोगों से दोस्ती हो गई थी। किसी ने सिगरेट, किसी-किसी ने तो चाय भी पिला डाली थी···। काश! कि शार्मसिंह एक दिन की नहीं एक साल की छुट्टी ले लेता!

वह अपने मन को इधर-उधर के विचारों से बहलाने का प्रयास कर रहा था। वह उस घटना को भूल जाना चाहता था, जो निरन्तर सात दिन से उनका पीछा कर रही थी, किन्तु मन में बार-बार वह सब स्मरण हो आता—वह किस प्रकार भूल पाता कि वह एक चौकीदार है, जिसका कार्य चौकीदारी करना है, उसे वेतन भी तो उसी काम का ही मिलता है।

पुनः उसका मन भय से कांप उठा। प्रातः होते ही उसे ऑफिस वाले पुलिस के हवाले कर देंगे। उसे दी हुई सात दिन की अवधि भी तो समाप्त हो चली थी—साहब ने तो यही कहा था—"तुम्हारी शराफत पर मैं तुम्हें सात दिन का समय दे रहा हूं यदि कोई और होता तो अभी जेल भिजवा देता।"

वह सात दिन से ऑफिस भी नहीं गया था, ऑफिस जाकर करता भी क्या? कौन था वहां उसकी बात को सुनने वाला? सभी को उस पर संदेह था। एक-एक करके उसने सबके पांव पकड़े थे, सबसे भीख मांगी थी अपनी इज्जत-आबरू की। परन्तु कहां! किसी ने उसकी बात की ओर ध्यान तक नहीं दिया था। क्या कुछ नहीं किया उसने। कौन करता विश्वास उसकी सच्चाई पर। कलंक का काला टीका उसे लग गया था। वह चौकीदार जो था—दस वर्षीय सर्विस में यह पहला कटु अनुभव हुआ था।

आश्चर्य तो उसे भी था किन्तु वह किसका नाम लेता? वह तो कुछ भी नहीं जानता था। अकाउण्टेन्ट और दूसरे कर्मचारियो ने उसे तो बहुत बहकाया था कि शर्मा का नाम ले-ले हम लोग तुझे कुछ भी नहीं होने देंगे। साहिब से साफ-साफ कह दे कि शर्मा बाबू का हाथ है, नहीं तो बेटे, तैयार हो जा जेल यात्रा के लिए।

किन्तु वह ऐसा नहीं कर पाया। करता भी कैसे! शर्मा बाबू को वह भली-भांति जानता

था। उन जैसे देवता समान मनुष्य पर वह कैसे इल्जाम लगा देता। इतनी बात तो वह समझ ही गया था कि यह एक सोची व समझी चाल है शर्माजी को फंसाने के लिए···। वह उनके रास्ते की दीवार जो थे।

मनुष्य इतना स्वार्थी हो सकता है, इस प्रकार गिर सकता है, ऐसा उसने कभी सोचा भी नहीं था। उसके मन-मस्तिष्क इस घटना से आहत थे। किन्तु इस घुटन में भी उसकी एकमात्र आशा थे शर्माजी।

साहिब भी कोई भला आदमी नहीं लगता, यह भी अकाउण्टेन्ट के इशारों पर नाचता है। हिस्सा जो मिल जाता होगा। सम्भव है इस साजिश में साहिब भी सम्मिलित हों। शर्माजी ने उस दिन साहिब को तो मुंह पर कह दिया था। कैसा जिन्दादिल व्यक्ति है, जरा भी तो नहीं हिचकिचाये थे और बात भी क्या खूब कही थी मानो मेरे ही मन की बात कह डाली हो। भला सच्चे मनुष्य को डर काहे का—पूरे दफ्तर में वही तो एक ऐसे इन्सान हैं जिन्होंने कभी किसी से फूटी कौड़ी भी नहीं ली। यदि सभी कर्मचारी उनकी भांति रिश्वत के बिना ही सब काम करें तो क्या हमारा देश पुनः सोने की चिड़िया नहीं बन सकता—यह लोग मेरे कंधे पर बन्दूक रखकर गोली चला रहे हैं। चौकीदार जो हूं मैं। गरीब की औरत सबकी भाभी। वह हल्के से मुस्करा उठा।

उसे कुछ ठण्ड अनुभव होने लगी। यह ठण्डी हवा कहां से आ रही है भला। वह अभी सोच ही रहा था कि उसकी दृष्टि सामने खिड़की की ओर चली गई। लगभग सभी शीशे टूटे हुए थे जिनके स्थान पर गत्ते काट-काट कर ठोंसे गये थे, जो एक ओर से उखड़ चले थे। आश्चर्य है तहसील लेवल का हस्पताल और उसकी यह दशा, उसने अपने आप से प्रश्न किया—इन्हें कौन पूछता है—इधर तो सब चलता है। ठण्ड से किसी के प्राण भी निकल जायें तो क्या अन्तर पड़ेगा। हस्पताल में लोग मरते ही रहते हैं। मरना यहां कोई बड़ी बात थोड़ी है ठण्ड से मरे या रोग से मरे। सभी रोगी तो स्वस्थ होकर घर लौटते नहीं।

टूटी हुई खिड़की से शीत लहर ने अब उस पर अपना प्रहार जोर-शोर से आरम्भ कर दिया था। उसके दोनों बाजू कम्बल से बाहर पड़े ठण्ड से छटपटा रहे थे। धीरे-धीरे उसका पूरा शरीर कांपने लगा।

वह किसे कहता कि उसके बाजू कम्बल के भीतर कर दो, वार्ड में तो कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था। रही बात एक और कम्बल की तो ऐसा सोचना ही पागलपन था—कम्बल तो मिलने वाला नहीं था—हस्पताल में एक मरीज को केवल एक कम्बल ही ओढ़ने के लिए दिया जाता है, इसका ज्ञान उसे शाम को ही हो गया था। नर्स की गरज उसके कानों में अब भी गूंज रही थी—यह अस्पताल है, कोई धर्मशाला नहीं, यदि तुम्हें ही सारे कम्बल दे दें तो बाकी रोगियों को क्या ठंड से मरने के लिए छोड़ना है। घर से भी कुछ लेकर आया करो।

क्या हस्पताल में कम्बलों की कमी है। दवाइयां तो चलो बाजर में बेच डाली जाती हैं पर क्या कम्बल भी आज कल नीलाम कर दिये जाते हैं यह बात उसके लिए नयी थी। अरे, तू भी कैसा पागल है, यदि तेरा साहिब ऑफिस की दरी, कुर्सियां, हीटर, कोयला, बल्ब, टार्च, साबुन इत्यादि घर ले जा सकता है तो क्या डाक्टर साहिबान को इतना भी अधिकार नहीं कि दो-दो, चार-चार कम्बल ही साथ ले जायें। रोगियों के विषय में कौन सोचता है, वह मरें या जियें, उनकी बला से। तू ही सोच अभी तक कोई तेरी खबर लेने भी नहीं आया।

वह विचारों में उलझा ही था कि खिड़की के पास वाले रोगी की कराहट ने उसका

ध्यान अपनी ओर खींचा। पहले तो उसका स्वर धीमा ही था, किन्तु पलों में ही वह जोर-जोर से चिल्लाने लग पड़ा। शायद उसका दर्द बढ़ गया था। उसकी चिल्लाहट सुनकर एक अधेड़ आयु के व्यक्ति ने वार्ड में प्रवेश किया। जो शक्ल-सूरत से चौकीदार ही लगता था। भला इस ठण्ड में चौकीदार के अतिरिक्त दूसरा कौन जाग सकता था? डॉक्टर साहिब तो लिहाफ ओढ़े मस्त सोये होंगे। उन्हें आवश्यकता ही क्या थी इधर आने की। जब डाक्टर साहिब को ही अपनी ड्यूटी का ध्यान नहीं तो नर्स का कौन-सा सर फटा है कि इस कड़ाके के जाड़े में वार्ड में प्रवेश करे, ऐसी चीखें सुनने का तो उन्हें अभ्यास हो गया है।

आ-जाकर एक चौकीदार ही तो ऐसा है जिसे हर हाल में जागते रहना है· दिसम्बर की सर्दी हो या सावन की बरसात, उसे तो जागना है। यही तो ड्यूटी है उसकी —। अरे भाई, इसके साथ कौन है, उसने उच्च स्वर में पुकारा।

कुछ ही पलों में १७-१८ वर्षीय लड़का उस ओर दौड़ता हुआ गया था, शायद उस रोगी का बेटा था।

—जाओ भाई, सिस्टर को बुला लाओ।

घबराया हुआ वह लड़का वार्ड से बाहर निकल गया।

लगभग १५ मिनट पश्चात आंखें मलते हुए सिस्टर आ पहुची थी। आते ही उसने कोई इन्जेक्शन लगा दिया और यह कहते हुए कि "मैंने कम्पोज लगा दिया है, थोड़ी देर बाद इसे नींद आ जाएगी, घबराने की कोई बात नहीं" वह मेरी ओर चली आई, उसे शायद मेरे बाजुओं से लटकी ग्लुकोज की बोतलें नजर आ गई थीं। उसके पीछे-पीछे चौकीदार भी था।

सिस्टर! कम्बल सम्भालकर ओढ़ते हुए उसने कहा, इसको मैंने शाम को भी कहा था, अरे भाई, अगर भला चाहते हो तो शीघ्रता से डाक्टर की मुट्ठी गर्म कर दो। सर्दी बहुत है।

वह केवल उस ओर देखकर मुस्कराकर रह गई··

मुट्ठी गर्म कर दें? वह विचारों में खो गया। वर्तमान युग ही शायद मुट्ठी गर्म करने का युग है। जो भलीभांति, विधिपूर्वक मुट्ठी गर्म करने से परिचित है. उसकी पांचों उंगलियां घी में···

क्यों न मैं भी किसी की मुट्ठी गर्म कर दूं, किन्तु यह तो पाप होगा · पाप-पुण्य को कौन देखता है। अपना काम निकलना चाहिए। मुझे अकाउन्टेन्ट साहिब की बात मान लेनी चाहिए। मुझे भी जमाने के साथ चलना होगा—नहीं तो मुफ्त में बदनामी भी तो होगी पर पुलिस वालों से पिटाई भी हो जाएगी···

शर्माजी का क्या, वह तो नया टाइपराइटर भी खरीद सकते हैं। पर उनका नाम ही क्यों लिया जाये। दफ्तर में और भी तो लोग हैं क्यों न अकाउन्टेंन्ट का नाम···? यदि चौकीदार की बात ही इतनी बहुमूल्य है तो उसे अपनी शक्ति का लाभ उठाना चाहिए।

पर मेरी बात सुनेगा कौन? मैंने लाख कहा था, मैं नहीं जानता, मुझे कुछ पता नहीं, मैंने तो टाइपराइटर देखी भी नहीं। मैं क्या कह सकता हूं, उसे कौन कब और कैसे उठाकर ले गया। 'कल तुम्हें भी कोई उठाकर ले जा सकता है।' साहिब ने गर्ज कर कहा था। तुम कुछ भी कहो जिम्मेदारी (Responsibility) तुम्हारी है, तुम आफिस के चौकीदार हो, कान खोलकर सुन लो, यदि सात दिन में तुम टाइपराइटर का पता नहीं लगा सके तो मुझसे बुरा कोई नहीं होगा।

और आज आठवां दिन है, वह जानता था कि साहब उसे एक दिन तो क्या, एक घण्टा भी न देगा।

आज उसका एक नया जीवन आरम्भ होगा, जेल-यात्रा से। वह आज की रात भी नहीं सो पाया था। वह अब और अधिक जागना भी नहीं चाहता था।

'हां-हां, मैं सफेद झूठ बोल जाऊंगा··· बूढ़ी मां के लिए, पत्नी के लिए, अपनी तीन बेटियों के लिए। मुझे झूठ बोलना ही होगा। क्या मिला है आज तक सच्चाई के मार्ग पर चलने से, आज का यह युग सत्यवादी हरिश्चन्द्र का युग नहीं, यहां तो चारों ओर रावण ही रावण हैं। यदि जीना है तो मुझे भी रावण ही बनना होगा। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता तो है भी नहीं। इसमें ही मेरा समाधान है।

वह अपना संतुलन खो बैठा था, उसके नेत्रों में एक ही चित्र घूम रहा था और वह चित्र था बड़े बाबू शर्माजी का—जिनके होंठ अब भी मुस्करा रहे थे। आंखों में किसी प्रकार का भय नहीं था।

उसने दीवार से लटके क्लॉक की ओर देखा, साढ़े छः बज रहे थे। आफिस खुलने में साढ़े तीन घंटे अभी शेष हैं।

दस बजे सबकी आंखें मेरी ओर ही लग जाएंगी। आज की तो मेरी छुट्टी भी नहीं है। मैंने सात दिन आफिस न जाकर बड़ी भूल की है। अब तो सब लोगों का सन्देह विश्वास में परिवर्तित हो चला होगा—मेरी गैर-हाजिरी में पता नहीं क्या-क्या बातें हुई होंगी। झूठ बोलने से भी काम नहीं चलेगा। मैंने जान-बूझकर अपने आपको चक्रव्यूह में फंसा लिया है। अब तो केवल मृत्यु ही मृत्यु है। युगों से चली आ रही पुरखों की मान-मर्यादा मिट्टी में मिल के रह जाएगी।

वह जितना अधिक विचारों की गहराई में डूबता उतना ही अधिक प्रपीड़ित हो उठता। जल बिन मछली की भांति तड़प-तड़पकर उसने करवट बदली, वह स्वयं को साहस और धैर्य बंधाने के लाखों प्रयास करता किन्तु दूर-दूर तक उसे निराशा का घोर अन्धकार ही दिखाई देता—कहीं भी तो कोई रोशनी की किरण नजर नहीं आ रही थी, उसकी नैया टूटकर डूबने लगी थी। उसे तिनके की आवश्यकता थी किन्तु गहरे सागर में उसे बड़े-बड़े मगरमच्छ ही मुंह खोले दिखाई दे रहे थे। सागर में उठती तेज लहरें उसे डुबोने के लिए उतावली थीं।

'हां भाई, अब कैसी तबीयत है ?' डॉक्टर के स्वर ने उसे झिंझोड़ डाला। भरी हुई आंखों से उसने डॉक्टर की ओर देखा। 'अरे भाई, घबराने की कोई बात नहीं—सब ठीक हो जाएगा, मन छोटा मत करो।'

उसके जी में आया कि वह डॉक्टर से कह दे, वह जीना नहीं चाहता। वह यहां पर स्वस्थ होने के लिए नहीं, मरने के लिए आया है। किन्तु वह कुछ भी न कह सका।

डॉक्टर ने उसका ब्लडप्रेशर चेक किया और वह खामोश शायद मृत्यु की प्रतीक्षा में लगा हुआ था।

उसकी ओर देखते हुए आश्चर्य से डॉक्टर ने कहा, "तुम्हारी आंखों से ऐसा लगता है कि तुम रात ठीक से सो भी नहीं पाये। चिंता मत करो।"

डॉक्टर साहब चौकीदार रात को सोता नहीं, जागता रहता है। आप भी कैसे डॉक्टर हैं यह भी नहीं जानते। लेकिन अपना यह वाक्य वह होंठ पर नहीं ला सका।

घड़ी की चलती हुई सुइयां उसके तन-बदन को छेदती चली जा रही थीं। टिक-टिक की ध्वनि उसके कानों से टकराती एक जहर-सा घोल रही थीं उसे प्रतीत हो रहा था मानो दीवार पर लटका क्लॉक हड्डियों से सांस नोंच रहा है। यह घड़ी उसके लहू को निचोड़ती,

उसी के दम से तो चल रही है, उसकी सांस के साथ-साथ।

कोई भी तो उपाय नहीं था उसके पास अपनी इस डूबती हुई किश्ती को किनारे पर ले जाने के लिए। वह किसी जंगल में भटककर रह गया था, दूर-दूर तक कहीं भी उसे कदमों के निशान नहीं मिल रहे थे।

उसके पास ही उसकी पत्नी, उसकी बूढ़ी मां, छोटी लड़की रेणु बैठी हुई थीं—उन्होंने उससे कितने ही प्रश्न किये थे किन्तु वह अक्सर चुप ही रहता। रेणु मस्त हाथों में बंधे घुंघरू के साथ खेल रही थी, मां और पत्नी के चेहरे मुरझाये हुए फूलों की भांति उसे ही ताकते चले जा रहे थे।

उसके अधरों पर मुस्कराहट फैल गई, ऐसा लगता था मानो उसे कोई उपाय स्मरण हो आया हो क्यों न थोड़ी-सी जमीन बेच दूं, पर वह यह भी तो नहीं जानता कि टाइपराइटर का मूल्य क्या होगा, न जाने उसे कितनी जमीन बेचनी पड़े, पहले ही उसे बड़े भाइयों ने जमीन ही कितनी दी है वह भी वेकार···। वह मन ही मन टाइपराइटर के मूल्य का अनुमान लगाने लगा।

उसने कभी स्टेनो से सुना था कि पांच-छः हजार से कम टाइपराइटर मिलना मुश्किल है। उसके पास तो केवल दस कनाल जमीन ही तो है और इसका गांव में मिलेगा ही क्या, एक हजार रुपये से अधिक तो कोई कनाल का देगा नहीं···

और फिर यह सम्भव है कि कल दूसरा टाइपराइटर गायव हो जाये, परसों कुछ और··· वह कितनी वार जमीन बेचेगा, जमीन के पश्चात वह कुछ और भी बेच सकता है क्या ?

क्लॉक ने नौ बजने की सूचना दी, उसका हृदय धड़कने लग पड़ा, आंखों में अन्धेरा सा छाने लगा। हाथ-पांव कांपते चले जा रहे थे। उसे इतना भी ध्यान न था कि आज आफिस क्रिसमिस डे के कारण बन्द रहेगा।

करवट बदली तो उसकी ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की नीचे रह गई सामने से दो पुलिस वाले वार्ड में प्रवेश कर रहे थे। उनके साथ ही साहिब और एकाउन्टेन्ट भी थे।

घबराकर उसने आंखें बन्द कर लीं। उसे लगा कि मां और पत्नी जोर-जोर से चीख रही हैं। उसका कण्ठ सूखता चला गया।

बेचारी मां को क्या पता, उसका बेटा चौकीदार है। आफिस की कोई भी वस्तु गुम हो जाए तो चौकीदार ही पकड़ा जाता है। उस पर तरह-तरह के कलंक लगाये जाते हैं। अन्त में उसे पुलिस को सौंप दिया जाता है। आज ये पुलिस वाले उसी के लिए तो आये हैं।

तो क्या वह लोग मेरे बेड के पास पहुंच गये हैं, अब वे बैग से हथकड़ियां निकाल रहे होंगे। इसी बीच पत्नी का हाथ उसके बाजू से टकरा उठा, चूड़ियों की झंकार ने उसे अधिक भय में धकेल दिया, उन्होंने हथकड़ियां निकालकर अब बिस्तर पर रख दी हैं। शायद अब मेरे हाथों में डाल दी जाएंगी और मुझे वह लोग अपने साथ ले जायेंगे।

मां और पत्नी, दोनों गिड़गिड़ाकर उनके पांव पर सिर रख देंगी। अपमान, इससे अधिक अपमान और क्या हो सकता है। जो बात अब तक सिर्फ कमरों तक ही सीमित थी, तेज आंधी उसे अपने साथ उड़ाकर गांव के सभी गली-बाजारों में बिखेर देगी।

उसे ऐसा लगा मानो उसे किसी ने बिस्तर से नीचे फेंक दिया है। शरीर टूटता चला जा रहा है। नींबू की भांति उसकी देह को कोई निचोड़ता चला जा रहा है। रक्त की एक-एक बूंद शरीर से निकलने लगी है। बिस्तर पर लाल कम्बल में लिपटा वह नहीं, उसका शव है।

'रतन', साहिब का स्वर उसे झिझोड़ गया था।

उसने हड़बड़ाकर आंखें खोलीं, उसके सामने उसके साहिब खड़े थे।

"साहिब मैंने चोरी नहीं की, मैं नहीं जानता, टाइपराइटर कौन ले गया है। साहिब, मैं सच बोल रहा हूं, मैं निर्दोष हूं। मैं रेणु के सिर पर हाथ रखकर कहता हूं। मेरा विश्वास कीजिये।" ज्यों ही उसने उठने का प्रयास करते हुए दायां हाथ आगे बढ़ाया, वह लड़खड़ाकर रह गया।

—रतन, टाइपराइटर तो दूसरे दिन ही मिल गया था, मुस्कराते हुए उन्होंने कहा।

उसे लगा, उसके सिर पर किसी ने हथौड़ा दे मारा हो। करवट बदलते हुए उसने आंखें बन्द कर लीं, उसका शरीर ठण्डा हो चला था। हृदय अब भी अनोखे भय से कांप रहा था। आंखों से निरन्तर आंसू बह रहे थे।

□

पुस्तकें और पुस्तकें

वर्तमान के आईने में भविष्य

□ डॉ० अनिल गोयल

सार्वजनिकता के निमित्त कहानी का जन्म मानने वाले लेखक डॉ० गंगाप्रसाद विमल अकहानी आंदोलन की शुरुआत के दिनों से लेकर अब तक निरंतर कहानियां लिखते आ रहे हैं। इनकी कहानियों के अनुवाद भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त—अंग्रेजी, रूसी, इस्पहानी, इतालवी, फ्रांसीसी, पोलिश, बलगारी, इस्तोनिपाई जैसी विश्व की अनेक भाषाओं में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। विमल की नयी कृति 'मेरी कहानियां' में तेरह कहानियां प्रकाशित हैं। 'मेरी कथा यात्रा' के अन्तर्गत लेखकीय परिधि का जायज़ा लेते हुए विमल स्वीकार करते हैं कि सृजन के अनोखे आविष्कार-कर्ताओं "कालिदास, भवभूति, गोगोल, चेखव, कबीर, स्टीफेन क्रेन···से सीधा सामना करना मुमकिन नहीं है और रचना के स्तर पर उन्हें पराजित करने की औकात और आत्मबल कहीं दृष्टि में नहीं है।"

समाज और व्यक्ति की चेतना से अनुप्रेरित कहानियां कथ्य और पात्रों के माध्यम से पाठक-मन के संवेदनात्मक सूत्रों को खोलती हैं। 'यूकलिप्टस' है की हाथ-विहीन नायिका और पिता की चेतना परोक्ष, अपरोक्ष दोनों रूपों में पाठक मन को द्रवित करती है। 'बच्चा' कहानी का केन्द्रीय-तत्त्व समाज की उस विसंगति को उद्‌घाटित करता है जिसका निर्वाह उच्च-वर्ग व मध्य-वर्ग प्रतिदिन अपने दायरे में करता है, इस पर तुर्रा यह कि दूसरे-दायरे में इस विसंगति पर संवेदना का जामा पहनाकर आलोचना करता है—वह विसंगति है श्रमिक वर्ग को हेय दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति। 'प्रिज़्म' में इसी विसंगति का दूसरा रूप है कि सामाजिक प्रथाओं के अनुरूप किसी प्रियजन की मृत्यु पर रोने-पीटने का काम ज्यादा, आगामी हालात से निपटने का काम किया जाता है। 'प्रेत' में उपरोक्त कहानियों की स्थितियों का निष्कर्ष निकालते हुए विमल कह उठते हैं "हम लोग इस दुनिया में प्रेतों की ज़िन्दगी जीते हैं", कारण यह है कि इस नुक्ते से नहीं तो उस नुक्ते से हम सामाजिक जीवों के हालात 'मिलते जुलते' हैं। 'निर्वासित' उस

---

१. मेरी कहानियां / गंगाप्रसाद विमल / दिशा प्रकाशन, दिल्ली / बाईस रुपये।

बच्चे की मानसिक ग्रंथियों का उद्‌घाटन करती है जो मां द्वारा दूसरी शादी रचाए जाने पर नये बाप द्वारा पीटा जाता है।

सभ्यता और संस्कृति के बढ़ते चरणों ने एक ओर जीवन में बदलाव लाया है, प्रगति लायी है तो दूसरी ओर इस संदर्भ में जहां अंधानुकरण हुआ है वहां अनुकरणकर्ता व्यक्ति-चेतना से भी शून्य हो गया है। व्यक्ति-मन की अधूरी इच्छाओं के 'खंडहर' बनते जाने की अनुभूति का जिक्र विमल ने यूं किया है "लोग खंडहरों को भी सुसज्जित कर रहे हैं—इस दुनिया में सब चीजें बाहर से रूपवान हो रही हैं...।" 'सैलानी' इसी सांस्कृतिक ह्रास की अगली कड़ी है। पूर्व के मुकाबले पश्चिम की "संस्कृति जो रूप ले रही है उसमें कोई भविष्य नहीं।"

व्यवस्था विरोधी कर्मचारियों और अखबार-संपादकों की पोल खोली गई है—'इधर-उधर' व 'इंता फिंता' कहानियों में। लेखक का आशय यह प्रकट करना रहा है कि सिफारिश से नौकरी तो मिलती ही है लेकिन कर्मचारियों को तन्खा बढ़ाने का लालच देकर थानेदार जैसे वरिष्ठ कर्मचारी स्वयं आग लगवाते और हत्याकांड करवाते हैं जिसे संपादक अखबारों में छापते हैं। संपादकों को लेखक यूं कोसता है—'वे गोलीकांडों की खबर और दाल-पापड़ के भाव एक साथ छापते हैं। वे एक साथ नेता के जुकाम की खबर छापते हैं और कहीं अंदर के पृष्ठों में बीच के किसी छोटे कॉलम में खबर छपती है अधिकारों के लिए मरने वाले तीन-सौ नौजवानों की।" 'विध्वंस' में साहित्यिक और राजनैतिक प्रतिबद्धता की बात की गई है। संकलन की अंतिम कहानी 'सात कहानियां उर्फ अवांतर' में सात गौण सामाजिक संदर्भों को लघुकथाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आज विमल की कहानियों पर दृष्टिपात करते हुए कहा जा सकता है कि लेखक के चिंतन में निखार आया है और चिंता में ऐसे बिम्ब उभरते हैं जो वर्तमान के आईने में से भविष्य की छवि बटोरते हैं। लेकिन इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि 'अभिशाप' जैसी कहानियों में लेखक पुरा-कहानियों की तरह व्यर्थ के ब्यौरों से मुक्त नहीं हो सका है। □

पंक्ति-पंक्ति उपलब्धि

□ भुवनपति शर्मा

'पास से देखने का सुख' में समाज, राजनीति, संस्कृति और यायावरी का मिश्रण है। कहीं कहीं कोई पंक्ति मन को छू जाती है। उन्हीं कुछ अविस्मरणीय पंक्तियों के कारण पुस्तक का महत्त्व है वरना यह भी एक और पुस्तक छपी है। **गंगा बाबू के सहारे आत्मनेपद** का इस प्रकार के संकलन में क्या महत्त्व हो सकता है कहना कठिन है।

मूल रूप से पुस्तक अज्ञेय, फादर कामिल बुल्के, शेख अब्दुल्ला, बी० पी० कोइराला जैसे व्यक्तियों के साथ कुछ अन्तरंग पहचान के क्षणों को पुनः जीने और पाठक के साथ सांझा करने का प्रयास है।

किसी के बहाने कुछ ये आलोचना है कि अपने सर्जक साहित्यकार की अभिव्यक्ति की

---

१. पास से देखने का सुख/शंकर दयाल सिंह/पारिजात प्रकाशन, पटना/१९८३/तीस रुपये

छटपटाहट। वत्सल व्याख्यान माला का आयोजन और टंडन, भारती, प्रेमचन्द, शताब्दी का
विवरण पत्र-पत्रिकाओं तक तो ठीक रहता है स्थाई महत्त्व उसका कितना है? इस रूप में इसे
इस पुस्तक की मात्र आकार वृद्धि के लिए जोड़ा गया लगता है।

राजकुमार शुक्ल पर परिचयात्मक लेख अच्छा है। इलाहाबाद यात्रा में महादेवी वर्मा
का दर्शन और बातचीत···इस पुस्तक में कुछ लेख न होते तो यह अधिक सुगठित और महत्त्व-
पूर्ण हो जाती। तीन दिनों तक कुछ टटोलते रहने का महत्त्व बढ़ता यदि व्याख्यानों के महत्त्वपूर्ण
अंश या सार संक्षेप इसमें होते। डॉ० विवेकीराय के भूमिका लेख के बावजूद वर्तमान पुस्तक
हिन्दी संस्मरण साहित्य में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं करती।

भाषा प्राणवान है। एक हार्दिकता उसमें है। यह तो कहा जा सकता है कि इस
पुस्तक को पुस्तकालयों से लेकर पढ़ा जा सकता है, व्यक्तिगत रूप से खरीदकर पढ़ने जैसी और
बार-बार जिसे देखने की इच्छा हो इस प्रकार की यह पुस्तक नहीं। यह तो डायरी के पन्ने हैं
और ये सबकी रुचि के नहीं होते। श्री शंकर दयाल सिंह कहते हैं—बहुत-सी बातें जो हौले-हौले
गुदगुदाती हैं या रह-रहकर अन्दर-ही-अन्दर सालती हैं उन्हें शब्दों का रूप न दूं तो क्या करूं?
जीवन के भागते पहियों की मर्मकथा, अपने बहाने संस्थाओं पर कुछ बातें, लेख में क्षणों के अनु-
बन्ध में घटना और व्यक्तियों का गुंफन और पहचान उसी प्रकार की प्राणवान भाषा के साथ हैं।
एक क्षण का उल्कापात भी जीवन्त प्रहरी होता है जो जलकर बुझ जाता है। इस प्रकार की
पंक्तियां पुस्तक की शक्ति हैं। अज्ञेय के व्यक्तित्व को, उनके फैलाव को एक पंक्ति में बंद किया
है—अज्ञेय बोध से अधिक व्याप्ति है और व्याप्ति से अधिक विस्तार या पास से देखने का सुख
करील कुंज न हो चमेली की बास है जो मन में बस जाती है। पुस्तक समाचार पत्र के स्तम्भ
का संकलन है जिनमें कभी-कभी कुछ महत्त्वपूर्ण मिल जाता है और यही इस पुस्तक की शक्ति
भी है और कमजोरी भी। □

मार्मिक प्रसंगों की व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति

□ डॉ० अशोक जेरथ

मेरे सामने अस्सी लघु कविताओं का संकलन 'महंगा भेजा' पड़ा है। सामाजिक
विसंगतियों, दिखावों, दोगलेपन और हिपोक्रेसी पर आक्षेप करती हुई रचनाएं एक ओर तो
पाठकों को हंसने पर मजबूर करती हैं तो दूसरी ओर स्थापित व्यवस्था के आडम्बरपूर्ण व्यवहार
पर प्रहार भी करती हैं। राजनीति के नाम से इन तथाकथित नेताओं ने इतना जहर घोल दिया
है कि जनसाधारण अब इनसे कतराने लगा है। एक व्यंग्यकार बड़ी सूक्ष्मता के साथ इस स्थिति
को महसूस करता है और उतनी ही सूक्ष्मता और प्रवीणता से इसकी अभिव्यक्ति भी कर पाने में
सक्षम होता है। छोटी-छोटी रचनाओं द्वारा संकलन में रचनाकार ने बड़े सशक्त कटाक्ष किए हैं।

१. महंगा भेजा / कमाल खान 'कमाल' / नूतन प्रकाशन, भोपाल / १९८३ / बीस रुपये।

ये कटाक्ष समाज के हर उस घटक को लेकर उभरे हैं जो 'वेनिटी' की मजबूरी में जी रहा है। नेता, डाकू, पुलिसवाला, वकील, न्यायाधीश, कवि, पत्रकार, निर्देशक, अभिनेता, विधायक, चपरासी, थानेदार, बाबू आदि के बनावटी पक्ष को लेकर अनेक प्रहार किए गए हैं जो पाठकों के लिए सुखद हो सकते हैं। विशेषकर राजनीति के अखाड़ों में कूदने वाले तथाकथित उन नेताओं पर तीखे व्यंग्य-बाण फेंके गए हैं जो हर समय मुखौटे चढ़ाए रहते हैं—उन मुखौटों की आड़ में वे अपने दिवालिएपन को छुपाए रहते हैं। 'महंगा भेजा' नामक रचना में बड़ा तीक्ष्ण प्रहार इन नेताओं पर हुआ है।

नेताओं का भेजा सौ रुपये प्लेट
सबसे सड़ा भेजा, सबसे महंगा बताते हो।
बैरा बोला—बाबूजी इसमें कुछ नहीं बचता है।
नेताओं का भेजा ही सबसे महंगा पड़ता है।
क्योंकि दो-तीन सौ को मारो। तब जाकर एक प्लेट निकलता है (पृ० १३)

इसी प्रकार 'आपका प्रताप' 'यमराज से मुलाकात' 'फर्क' कोबरा, अनेता से नेता, आदि ऐसे ही वर्ग पर कटाक्ष करती हुई कविताएं हैं। जहां विरोधाभास तथा प्रतीकों से चमत्कार उत्पन्न कर अपनी रचनाओं को दिलचस्प बनाने में रचनाकार सफल हुआ है, वहीं पर प्रत्यक्ष और सीधी बात व्यंग्य में कह जाना बुरी तरह से खटकता भी है। 'गधे की खोज' में एक धोबी का नेता के कमरे से अपने गधे की आवाज सुनना, छात्रों का अध्यापक को दिमाग-रहित कहना आदि प्रसंग खलते हैं पर कहीं-कहीं व्यंग्य की पृष्ठ भूमि में से बड़े मार्मिक प्रसंग भी उभर आते हैं—

साहित्यकार की मानसिक वेदना निम्न पंक्तियों के माध्यम से मर्म को छू जाती है—

कुछ बिका ?
हाथ घड़ी, साइकिल। गरम सूट बिक गया।
सिर्फ छपा हुआ बच गया।

इसी प्रकार 'नेत्रहीन' कविता भी मर्म को छू लेने वाली कविता है—जिसकी दो पंक्तियां दुःखद स्मृति को जगा जाती हैं—

"एक नेत्रहीन / दूसरे से बोला / चलो, यहां से कहीं दूर चलें /···हर व्यक्ति हमें भूतपूर्व कैदी समझ रहा है।"

सहज और सरल शब्दों का चयन, कहीं-कहीं अर्धछन्दों का प्रयोग कविताओं को पाठकों के बहुत करीब ला देता है। लय कहीं-कहीं पर संगीत के अस्फुट धरातल पर कविताओं को मनोरंजक बना देती है। पर यह संकलन की विशेषताएं नहीं कही जा सकतीं—रचनाएं व्यंग्य को उभारती हुई हास्य को जन्म देती हैं। कहीं पर भी शब्दों के जाल और विचारों के भोंडेपन को हावी नहीं होने दिया गया है—जो अक्सर ऐसी रचनाओं में होता है—यही इस संकलन की सबसे बड़ी विशेषता है।

एक बात बड़ी शिद्दत से चुभती है कि अनेक चुटकुलों को काव्य में बुन दिया गया है जिन्हें मौलिक नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ 'मेड इन इण्डिया' 'आर० एस० एस०' आदि रचनाएं अखबारी हाशियों तथा पत्रिकाओं के चुटकुलिया कालमों में छप चुकी हैं।

सामान्यतः इसे सफल प्रयास कहा जा सकता है क्योंकि ऐसे संकलन को पढ़ने के लिए किसी वाद या बाढ़े का साहित्य पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती। पाठक इसका स्वागत करेंगे ऐसी आशा है।

आपकी बात

□

• अंक ६८ अच्छा लगा, खासकर संजना कौल की कहानी में जो एक नयी संघर्ष-शील औरत ने आकार लिया है वह महिला कथा चेतना के संदर्भ में उल्लेखनीय है।

—धीरेन्द्र अस्थाना

द्वारा दिनमान, १० दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

• अंक ६१ मिला। 'शीराज़ा' का समीक्षा-स्तम्भ मुझे प्रायः कमजोर लगा है। पुस्तकों के चुनाव में सतर्कता की जरूरत है।

—भारत भारद्वाज

सिकाप बिल्डिंग, डोडा सिटी-१८२२०२

• शीराज़ा ६९ तथा ७०—दोनों अंक एक साथ प्राप्त हुए। दोनों अंकों की सज्जा तथा मुद्रण ने प्रभावित किया। अपने प्रदेश से इस प्रकार की पत्रिका के प्रकाशन पर किसी भी हिन्दी-प्रेमी का गौरवान्वित अनुभव करना स्वभाविक है। शीराज़ा ६१ के मुख-पृष्ठ पर भाई रतनलाल शांत का चित्र देखकर प्रसन्नता हुई। मैं सदैव अनुभव करता रहा हूं कि हमें उन लेखकों का सही मूल्यांकन एवं उचित सम्मान करना चाहिए जो अनेक विषम परिस्थितियों में साधना कर रहे हैं। यह एक बहुत अच्छी शुरूआत है। शांत जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व संबंधी डॉ० निजामुद्दीन का लेख भी पर्याप्त विशदता लिए हुए है। वैसे निज़ामुद्दीन जी विवरण अधिक देते हैं गहराई में कम उतरते हैं। पत्रिकाओं के लेखकों के लिए संभवतः यह आवश्यक विशेषता बन जाती है। समग्र रूप से देखने पर भी मुझे लगा कि गेट-अप जितना अच्छा रहा, लेखों का स्तर अनुरूपतः बढ़िया नहीं रह पाया। इसीलिए मुझे कुछ टिप्पणियां लिखने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

आरम्भ डॉ० अनिल गोयल के लेख से करना चाहता हूं। उनके लेख के शीर्षक ही में 'तनाव' की चर्चा है। समाजविज्ञान में तनाव की जो अवधारणा है, लेख लिखते समय उसका ध्यान नहीं रखा गया है। मैं अनिल जी से इस प्रकार के सतही लेखन की आशा नहीं करता।

श्री अशोक जेरथ के लेख ने भी काफ़ी निराश किया। जेरथ जी के बहुत से वक्तव्य गंभीर चिन्तन का परिचय नहीं देते। पृष्ठ १० पर कहा गया है—"अपने अस्तित्व की रक्षा

ही इस विचारधारा का मूलमंत्र था, यह अस्तित्व वादी विचारधारा थी। सम्यक् तौर पर इसे मनोविश्लेषणात्मक साहित्य के नाम से जाना गया।" मनोविश्लेषणवाद तथा चेतनाप्रवाह को भी पर्यायवाची मान लिया गया है। 'तत्सम' की चर्चा इस उपन्यास को समझने में किसी भी तरह सहायक नहीं बन पाई।

'जीवन दर्शन' एक बहुत गंभीर तथा व्यापक 'चीज़' है। कुछ उदाहरण देकर उन्हें किसी दर्शन से जोड़ लेना उस दर्शन के प्रति अन्याय करना है। वीणा जी ने 'चंगा लाना-खाना' चार्वाक् दर्शन का प्रभाव मान लिया है जबकि यह लोकमानस की एक सहज प्रवृत्ति है।

डॉ० चन्द्रकांत बांदिवडेकर का यह कहना सही है कि आलोचक का कार्य…साहित्य के सांस्कृतिक रूप से सम्बद्ध अनेक समस्याओं के चिन्तन तक फैला हुआ है। इसी बात को डॉ० मेघ यूं कहते हैं कि 'आज आलोचना एक संश्लिष्ट सांस्कृतिक व्याख्या के रूप में विकसित हो रही है। लेकिन इन्हीं सांस्कृतिक समस्याओं के नैतिक पक्ष को सामने रखना बांदिवडेकर आलोचक की 'प्राध्यापकीय' नज़र की कमजोरी मान लेते हैं। उनका यह तर्क सतही है कि सिनेमा जिस स्तर पर उतर आया है, साहित्य उसी स्तर पर उतर आए तो आलोचक को एतराज़ क्यों ? वस्तुतः उन्होंने कुछ ऐसी पुस्तकों की पैरवी करने की कोशिश की है जो भारतीय संस्कृति की धारा के प्रवाह में किनारे लगी रह जाती है। विचलन (डेवियेशन) भी सांस्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है लेकिन देखना यह है कि यह भूमिका कितनी सार्थक, सफल तथा उपयोगी है। आलोचना की ड्यूटी बस यही है।

आज साहित्य और आलोचना के सामने मुख्य प्रश्न यह है कि जो विपुल साहित्य प्रकाशित हो रहा है उसका सही मूल्यांकन कैसे हो, उसकी सही पहचान कैसे हो। मृदुला जी की यह बात कि आलोचक बीच में कहां से आ टपकता है—एक हद तक ही सही लगती है। आज प्रकाशनतंत्र विज्ञापनतंत्र से अलग नहीं रह गया है और विज्ञापन का तो मूल सिद्धांत ही है कि कोई चीज़ अच्छी या बुरी नहीं होती, विज्ञापन ही उसे वैसा बना देता है।

कुल मिलाकर अज्ञेय का प्रश्न बहुत सार्थक है—आलोचना है कहां ? लेकिन दोष आलोचक का भी नहीं है। लेखक ने स्वयं अपना झंडा उठा कर भी देख लिया है। कितने लेखक हैं जो आलोचक को ईमानदारी की इजाज़त देंगे ?

डॉ० राजकुमार के लेख में कुछ प्राक्कथनों को सामने रखकर कुछ कृतियों की आलोचना की कोशिश की गयी है। विचार के लिए उन्होंने छः प्रश्न माने हैं। यह तालिका यहीं क्यों रोक दी ? एक प्रश्नसूचक अव्यय मैं सुझा देता हूं—'क्या'। फिर भी, मानना होगा लेख काफ़ी गंभीरता लिए हुए है। लेखक ने शीर्षक लिखकर 'टरख़ाने' का काम नहीं किया है।

कुल मिला कर बधाई !

—डॉ० ओमप्रकाश गुप्त
६४७, शक्ति नगर-राझपुरा, जम्मू

अकादमी डायरी

□

२५ और २६ मार्च १९८४ को अकादमी के तत्त्वावधान में अभिनव थियेटर, जम्मू में अकादमी की रजत जयन्ती के सिलसिले में दो दिवसीय सेमिनार का आयोजन किया गया जिसमें प्रदेश के सभी भागों से आए प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

इस सेमिनार में उन सभी भाषाओं के बारे में लेख पढ़े गए जिनके प्रचार प्रसार और उन्नति के लिए अकादमी ने पिछले २५ वर्षों में भरपूर कोशिश की है। प्रतिनिधियों का स्वागत करते हुए आरम्भ में अकादमी के सचिव श्री मुहम्मद यूसुफ टेंग ने अकादमी की पिछले पच्चीस वर्षों की गतिविधियों की एक संक्षिप्त रपट प्रस्तुत करते हुए कहा कि इस सेमिनार के लिए हमने अकादमी की अब तक की सफलताओं और विफलताओं को चर्चा का मुद्दा बनाया है। इन पर अपने विचार व्यक्त करने और निर्णय देने का अधिकार इस प्रतिनिधि सम्मेलन को ही है। हमारे लिए यही मुनासिब है कि हम अपना मुंह बन्द रखकर अपने कान खुले रखें और आपकी सम्मतियों और सुझावों से भविष्य के लिए दिशा-निर्देश प्राप्त करें तथा उन्नति की इस गति को बढ़ाने तथा २५ साल के अनुभवों की रोशनी में इसकी कार्य-प्रणाली में अपेक्षित सुधार लाने का भी प्रयत्न करें। उन्होंने यह भी कहा कि अब समय आ गया है जब हमें इस प्रदेश की साहित्यिक और सांस्कृतिक विरासत पर दस्तावेजी फिल्में बनाने की ओर भी ध्यान देना चाहिए। उन्होंने यह भी बताया कि संगीत, नाटक तथा ललित कलाओं पर इसी किस्म का एक सेमिनार श्रीनगर में आयोजित किया जा रहा है जिसमें इन क्षेत्रों में अकादमी की उपलब्धियों और कमियों का जायजा लिया जायेगा।

इस सेमिनार का उद्घाटन प्रदेश के तत्कालीन शिक्षा मंत्री श्री मुहम्मद शफी ने किया और उन्होंने अकादमी की पिछले २५ वर्षों की गतिविधियों पर न सिर्फ संतोष व्यक्त किया अपितु यह भी कहा कि "अकादमी के काम को सारे मुल्क के लिए बतौर मिसाल पेश किया जा सकता है।" उन्होंने कहा कि हमें इस बात पर गर्व है कि अकादमी ने प्रदेश के बुद्धिजीवियों और लेखकों की एकता बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका सफलतापूर्वक निभाई है। हम देखते हैं कि देश के दूसरे हिस्सों में स्थिति दूसरी ही है। उन्होंने सरकार की ओर से यह घोषणा भी की कि सरकार अकादमी की गतिविधियों को और अधिक व्यापक और बेहतर बनाने के लिए हर

प्रकार की सहायता देगी। मंत्री महोदय ने आशा व्यक्त की कि लेखकों का यह सम्मेलन न केवल अकादमी की गत २५ वर्षों की गतिविधियों की समीक्षा करेगा बल्कि हमारे लिए एक नया कार्यक्रम और उस पर आगे बढ़ने के लिए पग भी सुझाएगा। इस अवसर पर मंत्रीजी ने अकादमी के नए प्रकाशनों का विमोचन भी किया।

सेमिनार के दूसरे दिन तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ० फारूक अब्दुल्ला भी अभिनव थियेटर में पधारे और प्रतिनिधियों के साथ विचार-विमर्श में भाग लिया। उन्होंने अकादमी के सचिव के सुझाव पर घोषणा की कि सरकार की ओर से दी जाने वाली आर्थिक सहायता में शत-प्रतिशत वृद्धि की जायेगी। उन्होंने लेखकों को भी इस बात का विश्वास दिलाया कि उनकी सभी उचित मांगें पूरी की जायेंगी। मुख्यमंत्री ने कहा कि अकादमी विगत की ही भांति भविष्य में भी प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत की रक्षा करेगी। इस संदर्भ में उनकी सरकार तमाम दरपेश रुकावटों को दूर करेगी ताकि यह रियासत जिस तरह अतीत में बाहर के बुद्धिजीवियों और दार्शनिकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बनी रहती थी उसी प्रकार भविष्य में भी मुख्तलिफ देशों के विद्वान और चिन्तक हमारी सभ्यता और संस्कृति की परम्पराओं को परखने और उनसे लाभ उठाने के लिए यहां आते रहेंगे। ऐसा तभी सम्भव है जब हम गतिशील हों और इस प्रदेश को पुनः ज्ञान और साहित्य का घर बना दें। उन्होंने आगे कहा कि अकादमी जिस प्रकार अपने कल्चरल ट्रूप रियासत से बाहर भेजती रही है उसी प्रकार भविष्य में लेखकों और बुद्धिजीवियों पर आधारित सांस्कृतिक दल भी बाहर भेजे जाएंगे ताकि हमारे लेखक और कवि भी देश के सांस्कृतिक केन्द्रों का भ्रमण कर सकें।

सेमिनार के पहले दिन डॉ० हामदी कश्मीरी ने अपना लेख—'उर्दू शीराज़ा—एक जायजा' शीर्षक से पढ़ा। इस बैठक के अध्यक्ष मण्डल में सर्व श्री दीनानाथ नादिम, बलराजपुरी, सूफी गुलाम मुहम्मद और (श्रीमती) पद्मा सचदेव शामिल थे। इस लेख पर लगभग चार घंटे तक बहस होती रही जिसमें सर्व श्री अब्दुल रशीद कावली, सैफ-उद्दीन सोज, खालिद हुसैन, असदउल्लाह वाणी, दीनू भाई पंत, रशीद नाजुकी, प्रितपालसिंह बेताब, बलराज कुमार, मंशूर बानिहाली, अब्दुल अहमद; फ़ारूक नाजुकी, मरगूब बानिहाली, (श्रीमती) चम्पा शर्मा, नाजिर कुलगामी, शहबाज राजौखी, ग्यालसन, सूफी गुलाम मुहम्मद, मुहम्मद यूसुफ टेंग और दीनानाथ नादिम ने हिस्सा लिया। बहस के दौरान इस बात पर जोर दिया गया कि 'शीराज़ा' का प्रकाशन नियमित होना चाहिए और अधिक से अधिक प्रादेशिक लेखकों की स्तरीय रचनाओं को इसमें स्थान मिलना चाहिए। दूसरी बैठक में डॉ० ललित मंगोला का लेख पढ़कर सुनाया गया जिसका शीर्षक था 'कल्चरल अकादमी के २५ साल और डोगरी जुबान।' सर्वश्री दीनूभाई पंत, सैफ़-उद्दीन सोज; सेवासिंह और पृथ्वीनाथ मधुप ने सम्मिलित रूप से इस बैठक की अध्यक्षता की। इस पर भी बहुत देर तक बहस हुई जिसमें सर्वश्री वेद राही, सत्यप्रकाश आनन्द, रशीद नाजुकी, पद्मदेवसिंह निर्दोश, तेज बहादुर भान, देशबन्धु डोगरा और गुरचरणसिंह गुलशन ने भाग लिया। इसके बाद प्रोफेसर सुभाष भारद्वाज ने अपना लेख प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था 'जम्मू-कश्मीर में हिन्दी साहित्य और कल्चरल अकादमी।' इस लेख पर हुई बहस में भाग लेने वाले थे सर्वश्री निर्मल विनोद, मुहम्मद हुसैन सलीम, शहबाज राजौखी, ओमप्रकाश गुप्त, ज्योतीश्वर पथिक, डॉ० आदर्श, अशोक जेरथ तथा प्रो० राजकुमार। तीसरा लेख पंजाबी भाषा और साहित्य से सम्बन्धित था और इसे देवेन्द्रसिंह ने लिखा था। इस पर जो बहस हुई उसमें सत्यप्रकाश आनन्द, जी० एस० गुलशन, विश्वानाथ

हरनामसिंह जाचक, प्रेमसिंह और
दिल, किरपाल सिंह, रघुबीर सिंह मुक्त, जे० एस० गुलाब,
सेवासिंह ने भाग लिया।

इन लेखों पर जो बहस हुई उसमें ज्यादातर जोर इस बात पर दिया गया था कि
अकादमी को लेखकों को उनकी कृतियों के प्रकाशन के लिए दिए जाने वाले अनुदान में
बढ़ोत्तरी करनी चाहिए क्योंकि महंगाई के कारण सम्प्रति जो अनुदान की राशि दी जा रही है
उससे किताबें छपवाना असम्भव हो चला है। यह मांग भी की गई कि अकादमी को ऐसे पग
उठाने चाहिए जिनसे लेखकों की पुस्तकों की बिक्री की समस्या हल हो सके।

सेमिनार के दूसरे दिन पहला लेख 'कल्चरल अकादमी के २५ साल और उर्दू जुबान'
शीर्षक से प्रस्तुत किया श्री असदउल्लाह वाणी ने। इस बैठक के अध्यक्ष मंडल को सुशोभित
किया सर्वश्री अली मुहम्मद लोन, अब्दुल सत्तार रंजूर, वेद राही और मंजर आजमी ने। इस
परचे पर जमकर बहस हुई और प्राय: लेखकों ने यह कहा कि यह एक लेख न होकर विस्तृत
रिपोर्ट मात्र है और कहा कि इसमें वही बातें दुहराई गई थीं जो कल से यहां सुनी जा रही हैं।
बहस के दौरान यह मांग भी की गई कि उर्दू की तरक्की के लिए राशि बढ़ाई जानी चाहिए।
बहस में हकीम मंजूर, रशीद नाजुकी, देश बन्धु डोगरा, प्रितपालसिंह बेताब, शमशाद क्राल-
वारी, अनीस हमदानी, यासर कश्मीरी, मश्अल सुल्तानपुरी, नजर बोनियारी और मंजर
आजमी ने हिस्सा लिया।

दूसरा लेख था—'कश्मीरी ज़ुबान व अदब के २५ साल।' इसे गुलाम नबी फ़िराक़
ने लिखा था। इस पर हुई बहस में मरग़ूब बानिहाली, गुलाम नबी नाजिर, अली मुहम्मद लोन,
अब्दुल सत्तार रंजूर, बलराज पुरी, सोमनाथ वीर, शहबाज़ राजौरवी, जुनूं रतनपुरी, यासर
कश्मीरी, सर्वानन्द कौल प्रेमी और मंशूर बानिहाली ने हिस्सा लिया। बहस के दौरान इस
बात को दोहराया गया कि अकादमी किताबें छापने के लिए लेखकों को समुचित आर्थिक
सहायता प्रदान नहीं करती। जम्मू प्रान्त के कश्मीरी लेखकों ने इस बात पर बल दिया कि
अकादमी को हर साल जम्मू प्रान्त से सम्बन्ध रखने वाले कश्मीरी अदीबों और शायरों की
कांफ्रेन्स प्रान्तीय स्तर पर आयोजित करनी चाहिए और इसके साथ ही इस क्षेत्र में कश्मीरी
के प्रचार-प्रसार के काम को अकादमी के जम्मू स्थित कार्यालय तक विस्तार देना चाहिए।
अधिकांश प्रतिनिधियों ने अनुभव किया कि सेमिनार के लिए कश्मीरी शीराज़ा पर अलग से
एक लेख लिखवाया जाना चाहिए था क्योंकि यह पत्रिका कश्मीरी भाषा और साहित्य की
उन्नति के संदर्भ में उल्लेखनीय भूमिका निभा रही है।

तीसरा लेख लद्दाखी भाषा और साहित्य के बारे में था और इसे एम० जी० ग्यालसन
ने लिखा था। बलराजपुरी और वेद राही ने इस पर बहस के दौरान कहा कि हमें इस बात पर
गर्व है कि हम एक ऐसे प्रदेश के निवासी हैं जहां लद्दाखी जैसी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ख्याति
प्राप्त भाषा भी बोली जाती है। वेद राही ने कहा कि अकादमी को भविष्य में लद्दाखी के बारे
में एक विशेष सम्मेलन लेह में आयोजित करना चाहिए। इनके अतिरिक्त अब्दुल सत्तार रंजूर
और ङवांग छेरिंग ने भी बहस में भाग लिया।

चौथा परचा में रसीद नाज़ुकी ने 'अरबी और फ़ारसी के तईं अकादमी की खिदमात'
शीर्षक से पढ़ा। इस दूसरी बैठक की अध्यक्षता वेद कुमारी घई, देश बंधु डोगरा, ख़ालिद
हुसैन और प्राण किशोर ने सम्मिलित रूप से की। मकाले पर हुई बहस में नाज़िर कुलगामी,
मरग़ूब बानिहाली, मंशूर बानिहाली, मजरूह रशीद और वेद कुमारी घई ने हिस्सा लिया।

बहस में इस बात पर ज़ोर दिया गया कि अकादमी के पास अरबी और फ़ारसी की जो पांडु-लिपियां हैं उनका वर्गीकरण किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो महत्त्वपूर्ण और नादिर नमूने लोगों के पास प्राइवेट तौर पर मौजूद हैं और जिनके नष्ट हो जाने की पूरी-पूरी सम्भावना है अकादमी को चाहिए कि वह उन्हें खरीद ले और उनकी देखभाल करे।

दो दिवसीय सेमिनार का आख़िरी परचा नीलाम्बर देव शर्मा ने लिखा था जिसका शीर्षक था, 'कल्चरल अकादमी और अंग्रेज़ी तथा संस्कृत भाषाएं।' इस पर हुई बहस में वेद कुमारी घई, निर्मल भारद्वाज, रमेश मंगोत्रा, विश्वानाथ दिल, सुखबीर कौर, अब्दुल अहद और श्याम सुन्दर आनन्द लहर ने भाग लिया।

सेमिनार के उद्घाटन सत्र के आरम्भ में इन्स्टीट्यूट ऑफ़ म्यूज़िक एण्ड फ़ाइन आर्टस, जम्मू की ओर से एक वाद्य-वृन्द रचना प्रस्तुत की गई जिसमें प्रदेश की तीनों इकाइयों की लोकधुनों को एक संगम पर इकट्ठा किया गया था। उसी दिन संध्या समय प्रतिनिधियों और आमंत्रित अतिथियों के समक्ष 'पिया बाज प्याला' (सुविख्यात म्यूज़िकल ऑपेरा) प्रस्तुत किया गया जिसे सभी ने सराहा।

सेमिनार के अवसर पर अभिनव थियेटर की आर्ट गैलरी में एक प्रदर्शनी भी लगाई गई थी जिसमें अकादमी द्वारा संग्रहीत महत्त्वपूर्ण पुरातात्विक चीज़ों, कपड़ों और किताबों के अतिरिक्त अकादमी द्वारा समय समय पर आयोजित उल्लेखनीय कार्यक्रमों की तस्वीरें भी रखी गई थीं। प्रदर्शनी देखने मुख्यमंत्री और बेगम शेख मुहम्मद अब्दुल्ला भी पधारे। मादरे-मेहरबान ने प्रदर्शनी का अवलोकन करने के बाद विज़िटर्स बुक में अपनी सम्मति दर्ज करते हुए लिखा—"मैं अकादमी के सेक्रेटरी मुहम्मद यूसुफ़ टेंग और उनके रुफ़का-ए-कार को, जो ज़ुबानों, सक़ाफ़त और फ़नूने-लतीफा के शोबों में सरगर्म-अमल हैं, दिल की गहराइयों से अकादमी की 'सिल्वर जुबली' के मौका पर मुबारकबाद देती हूं। मैं अकादमी की गोना-गूं सरगर्मियों को देखकर, जो पूरी रियासत के लोगों की अक्कासी हैं, फ़ख्र महसूस करती हूं। यह जनाब शेरे-कश्मीर का ख्वाब था जो ताबीर-पज़ीर हुआ।"

सेमिनार के दूसरे दिन शिक्षा मंत्री की ओर से प्रतिनिधियों के सम्मान में दावते-असराना दी गई जिसमें स्थानीय लेखकों, बुद्धिजीवियों और पत्रकारों ने भी भाग लिया।

अंत में, उसी शाम को, देश की प्रतिष्ठित कत्थक नृत्यांगना यामिनी कृष्णमूर्ति ने अभिनव थियेटर में अपनी कला का प्रदर्शन किया। इस अवसर पर दूसरे लोगों के अतिरिक्त मुख्यमंत्री तथा अकादमी के अध्यक्ष डॉ० फ़ारूक़ अब्दुल्ला भी मौजूद थे।

'अकादमी' (उर्दू, में प्रकाशित खबरनामा) से साभार

□

१६ और २० सितम्बर १६८४ को श्रीनगर के टैगोर हाल में रजत जयन्ती समारोहों की अंतिम कड़ी के रूप में नृत्य, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं पर दो दिन के सेमिनार का आयोजन किया गया। अपने स्वागत भाषण में अकादमी के सचिव श्री मुहम्मद यूसुफ़ टेंग ने अकादमी की गतिविधियों का विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया। अकादमी के अध्यक्ष, मुख्यमंत्री, श्री गुलाम मुहम्मद शाह ने अकादमी के काम के प्रति अपना संतोष व्यक्त करते हुए उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्होंने आशा व्यक्त की कि अकादमी भविष्य में और अधिक प्रगति करते हुए देश के सांस्कृतिक मानचित्र में इस प्रदेश को विशेष स्थान दिलाने में सहायक प्रमाणित होगी।

इस सेमिनार में जो निबन्ध पढ़े गए उनका विवरण इस प्रकार है—

१. कल्चरल अकादमी के पच्चीस साल और फ़नूने-लतीफ़ा में पेशरफ़्त— विद्यारत्न खजूरिया
२. कल्चरल अकादमी औ रफ़ने मुसव्वरी—सजूद सैलानी
३. कल्चरल अकादमी और रक्स—प्राण किशोर
४. जम्मू में संगीत और कल्चरल अकादमी—निर्मल विनोद
५. कल्चरल अकादमी और मौसीक़ी — एम० एस० भगत
६. जम्मू में थियेटर और कल्चरल अकादमी —मदन मोहन शर्मा
७. कश्मीर में थियेटर और कल्चरल अकादमी—अली मुहम्मद लोन

२० सितम्बर १९८४ को सायं ५ बजे शिक्षा मंत्री श्री अली मुहम्मद नायक की ओर से प्रतिनिधियों के सम्मान में जलपान का आयोजन किया गया था। उसी दिन शाम ६-३० बजे लखनऊ की प्रतिष्ठित नृत्यांगना कुमकुम धर ने कत्थक नृत्य का प्रदर्शन किया जिसे वेहद सराहा गया।

इसी अवसर पर अकादमी की ओर से एक प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया था जिसमें देश के प्रतिष्ठित कलाकारों द्वारा 'कलाकार कैम्पों' में बनाई गई कलाकृतियों के अतिरिक्त ख़ताती के नमूनों, लिबासों, ऐतिहासिक दस्तावेज़ों आदि को भी रखा गया था। प्रदेश के प्रतिष्ठित लेखकों / कलाकारों तथा अकादमी के विभिन्न कार्यक्रमों के चित्रों को भी प्रदर्शनी में बड़े सलीके से प्रदर्शित किया गया था।

□

मौजूदा स्थिति में लेखक और आलोचक के समक्ष उत्तेजक ('स्टिमुलस') तो सम्भव है परन्तु प्रतिक्रिया-समय (रिस्पांस पीरियड) में भिन्नता बरकरार है। उत्तेजक तथ्यों पर आलोचक की प्रतिक्रिया 'सैकिण्डहैण्ड' होने के कारण विश्वसनीय होनी ही चाहिए परन्तु विडम्बना यही है कि अपनी प्रतिक्रियाओं में तादात्म्य ढूंढने की अपेक्षा दोनों इकाइयां परस्पर विरोधी ध्रुवों पर एकत्रित होने लगी हैं…'आलोचना के विरुद्ध?' अंक पढ़कर तो ऐसा ही प्रतीत हुआ।

अधिकतर लेखकों ने अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य की मांग की है, पर स्वयं आलोचक को यह अधिकार देने से गुरेज़ किया है। परस्पर की इस छीना झपटी में बेचारा पाठक उपेक्षित ही रहा है। न आलोचक ने और न ही लेखक ने स्वयं को साधारण शिक्षित (प्रशिक्षित नहीं) पाठक की स्थिति में रखकर अपनी बात कही है। कुल मिलाकर प्रस्तुत अंक आलोचक और लेखक के बीच के दवे घुटे तनाव को प्रकट करने में सफल रहा है।

—प्रो० राजकुमार

हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

'आलोचना के विरुद्ध?' अंक पढ़ने के बाद निष्कर्ष रूप में दो बातें उभरकर सामने आती हैं—एक, हिन्दी में अच्छे आलोचकों की कमी। दूसरे, आलोचकों की प्रतिबद्धता। यही दो मुद्दे हैं जिन पर अधिकांश लेखकों ने कलम चलाई है।

असल में आलोचना साहित्य की एक सर्जनात्मक विधा है। सर्जनात्मक उसी तरह जिस तरह साहित्य की अन्य विधायें—कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक आदि। आलोचना मेरी दृष्टि में अन्य विधाओं से अधिक कठिन विधा है। इसके लिए न केवल अनुभव अपितु विशद् एवं गहन अध्ययन की भी आवश्यकता है। यही कारण है कि जहां जितने अच्छे साहित्यकार

मौजूद हैं वहां उतने अच्छे आलोचक नहीं।

लेखक और आलोचक के बीच सम्बन्धों की बात मैं मृदुला गर्ग की टिप्पणी के सन्दर्भ में उठाना चाहूंगा। मुझे आश्चर्य हुआ साथ-साथ एक सुख तथा हर्ष का अनुभव भी कि मृदुला गर्ग ने राजनारायण के अलग राजनीतिक दल की तरह कोई अलग पाठक वर्ग भी तैयार कर लिया है। सच्चाई अलबत्ता यह है कि हिन्दी साहित्य का पाठक ही नहीं है। अगर कुछ साहित्यकार विश्वविद्यालयों के छात्रों, अनुसन्धानकर्ताओं तथा प्राध्यापकों को पाठक मानने की खुशफ़हमी में हैं तो मुझे इस पर कोई ऐतराज नहीं है। मृदुला गर्ग शायद भूल रही हैं कि जिस प्रकार के गुटवादी आलोचकों से वे चिड़ती हैं वे स्वयं भी उसी प्रकार के गुटबाज आलोचकों के कारण उभर सकी हैं।

हिन्दी साहित्य में आज जिस प्रकार बहुत से लेखक अपनी रचनाओं के बारे में खुशफहमी पाले हुए हैं उससे अच्छे आलोचकों की कमी कुछ हद तक अखरती है। जब लेखक हैं तो आलोचना की उपस्थिति भी अनिवार्य है। रमेश कुन्तल मेघ तथा चन्द्रकांत बांदिवडेकर ने कुछ मुद्दों को सही ढंग से उभारा है।

—अशोक कुमार

प्लाट नं० ३०९, रिहाड़ी कालोनी जम्मू

द्विमासिक शीराज़ा हिन्दी

71

वर्ष २० / अंक २-३
(जून-सितम्बर १९८४)

प्रमुख सम्पादक
मुहम्मद यूसुफ टेंग

सम्पादक
रमेश मेहता

पत्र-व्यवहार
सम्पादक
शीराज़ा हिन्दी
जे० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, नहर मार्ग, जम्मू।
फोन : ५०४०

मुद्रक :
रूपाभ प्रिंटर्स,
शाहदरा, दिल्ली-३२

यह अंक : चार रुपये
वार्षिक शुल्क : दस रुपये

अनुक्रम

लेख

परिचर्चा

कहानियां

कविताएं

स्थायी स्तम्भ